UNIVERSAL LIBRARY

OU_178948

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. Accession No

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

चार के चार

कमल जोशी

★

शुभ्रा प्रकाशन
२६, कंट्राक्टर्स एरिया (वेस्ट)
जमशेदपुर

प्रकाशक :

शुभ्रा प्रकाशन
२६, कंट्राक्टर्स एरिया (वेस्ट)
जमशेदपुर

प्रमुख वितरक :

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, नई दिल्ली, **बम्बई**

मुद्रक :

बृजलाल पाण्डेय
यूनाइटेड कर्माशियल प्रेस लि०
१, राजा गुरुदास स्ट्रीट
कलकत्ता - ६

आवरण :

श्री आनन्द महाजन

आवरण मुद्रक :

फोटोग्राफिक स्टोर्स एण्ड एजेंसी लि०
कलकत्ता - ७

मूल्य : ढ़ाई रुपये

दीपावली : १९५३

जिंदगी की राह ७
स्वप्न के आखीर में २९
लच्छो ४३
कामरेड ५९
देवकी के दाँत ७१
उनकी मुलाकात ८१
लाश ९९
डाक्टर की पत्नी १२३
कन्हैया की मा १३५
चार के चार १४९

ज़िन्दगी की राह

'आपकी शिक्षा ?'

'मैट्रिक तक।'

'मैट्रिक तक ? क्या मतलब, मैट्रिक पास नहीं है ?'

'जी, इम्तहान नहीं दे सकी।'

'ओ ! आपके और कौन-कौन हैं ? यानी अभिभावक। यह बताइये, यदि आप यहाँ काम करें, तो उन्हें कोई आपत्ति तो न होगी ?'

'आपत्ति ?' युवती ने कुछ ऐसे ढंग से कहा जैसे सन् उन्नीस सौ उनचास में भी ऐसे कुसंस्काराग्रस्त और दकियानूस शरणार्थी अभिभावक भला कितने हो सकते हैं, जिन्हें लड़की के काम करने पर आपत्ति हो।

'आप टाइप करना तो जानती हैं, क्यों ?' मेज के नीचे पैर फैलाकर और कुर्सी की पीठ का सहारा लेते हुए केशव ने सिगरेट जलायी। फिर अर्जी को जरा उलट-पुलट कर बोला : 'आपने एप्लिकेशन में शार्टहैंड जानने के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। हमें तो एक स्टेनो की जरूरत है।'

'मैं शार्टहैंड सीख लूँगी।' अब तक सिर झुकाये युवती जवाब दे रही थी। इस बार उसने आँखें उठा कर सामने की ओर देखा। यदि सिगरेट के धुएँ की वजह से केशव की दृष्टि धुंधली न हो गयी होती, तो उसे साफ नजर आ जाता कि युवती की आँखें छलछला आयी हैं—'मैं बहुत जल्दी सीख लूँगी। आप मुझे सिर्फ एक बार मौका दीजिये। हमारा सब-कुछ चला गया, हमें खास रियायत नहीं मिलेगी ?'

'मिलेगी, लेकिन उसके साथ-साथ कुछ योग्यता भी तो होनी चाहिये।' धुआँ छोड़ते हुए प्रवचन के ढंग से केशव ने कहना शुरू ही किया था कि एकाएक आँखें चार होते ही एकदम चुप हो गया।––'अरे, तुम लता हो न? तुम यहाँ?'

लता हँसी। 'केशव भैया, आपने पहचान तो लिया। मैं आपको देखते ही पहचान गयी। पर मैं गरीब हूँ, नौकरी करने आयी हूँ, इसलिये आत्म-परिचय देने की हिम्मत न हुई। फिर, यह तो इण्टरव्यू है। यहाँ व्यक्तिगत परिचय अप्रासंगिक है। यहाँ सिर्फ योग्यता की ही कद्र है, क्यों?'

ऐश-ट्रे में केशव ने सिगरेट डाल दी। जेब से सेंट लगा हुआ रूमाल निकालकर माथा पोंछा, फिर गला और यहाँ तक कि कमीज का कालर हटाकर पीछे से गर्दन भी पोंछी।

बोला, 'तुमने तो अब खूब बात बनाना सीख लिया है। उस दिन की जरा-सी लड़की आज कैसी बातें बना रही है। अच्छा, तुम जरा बाहर के कमरे में बैठो। अभी दो की इण्टरव्यू और बाकी है, इन्हे भी खतम कर लूँ।'

लता को वहाँ ज्यादा देर नहीं बैठना पड़ा।

दस मिनट बाद ही चपरासी ने एक पुर्जा लाकर लता को दिया। केशव ने लिखा है कि यहाँ से दोनों का एक साथ निकलना ठीक नहीं होगा। काफी हाउस के सामने लता खड़ी रहे, दो मिनिट बाद केशव भी वहाँ पहुँच जायगा और उसे अपनी कार मे ले चलेगा।

काफी हाउस के सामने पहुँचकर लता ने देखा कि केशव उससे पहले ही वहाँ आ पहुँचा है। मोटर का दरवाजा खोलते हुए केशव ने कहा, 'आओ, बैठो।'

'इण्टरव्यू खतम हो गयी?'

'हाँ, जैसे-तैसे सबकी इण्टरव्यू ले ली। लेकिन डरो मत, नौकरी तुम्हें ही मिलेगी।'

मोटर के बाहर मुँह निकालते हुए लता ने जवाब दिया, 'रहने दो।

उनमें से ही किसी एक को तुम नौकरी दे दो। मुझसे भी ज्यादा योग्य उम्मीदवार अवश्य होंगी।'

'हां, हैं।' केशव बोला—'पाँच युवतियां एफ० ए० पास हैं, दो सीनियर केम्ब्रिज हैं। और तो और दो थर्ड क्लास बी० ए० भी हैं। लेकिन सिर्फ डिग्री ही तो योग्यता नहीं है।'

'तब फिर योग्यता क्या है! लता को हँसी आ गयी। 'जरा देर पहले ही तो मेरी अर्जी नामंजूर करने वाले थे। वह तो जान-पहचान निकल आयी, इसीलिये मैं योग्य हो गयी?'

'नहीं, यह बात नहीं।' कुछ संकोच के स्वर मे केशव ने जैसे सफाई दी—'पश्चिमी पंजाब से जो शरणार्थी आये हैं, उन लोगों के प्रति क्या हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं? खैर, ये सब बातें पीछे होंगी। अब चलो, हमारे घर चलो। तुम्हारी भाभी तुमसे मिलकर बहुत खुश होंगी।'

लता को देखकर कान्ता खुश हुई या नहीं, यह बताना मुश्किल है। लेकिन हां, उसे पहचानने में केशव को जितना वक्त लगा था, उससे कहीं ज्यादा कांता को लगा। जब उसे याद आयी, तो बोली, 'अरे ओ। यह वही लता है? तुम्हारे लायलपुर वाले मुंशी की लड़की है न? इतनी बड़ी हो गयी, अब तो पहचानी भी नहीं जाती?'

लता ने जवाब दिया, 'मुंशी की लड़की को पहचानने मे कुछ देर लगती ही है भाभी। यह क्या कम है कि अन्त मे मैं तुम्हे याद तो आ गयी।'

मानो कान्ता ने यह व्यंग नहीं समझा, इस ढंग से ही उसने कहा, 'अभी, तुम्हारी शादी नहीं हुई? बीस साल की तो होगी —।'

'भाभी, मेरी उम्र कम क्यों बताती हो? अब चौबीसवां लगा है। जब सबसे पहली बार आपने मुझे देखा था, यह प्रायः आठ साल पहले की बात है, तब ही मैं पंद्रह-सोलह साल की थी।'

'चौबीसवां!' विस्मयसूचक और विचित्र स्वर में कान्ता ने कहा।

'लेकिन देखने में इतनी बड़ी गलती नहीं हो। अब भी छोटी-सी ही हो। मेरी ही कौन ज्यादा उम्र है, पर देखो, अभी से बुढ़िया लगने लगी हूँ।'

कान्ता की रेशमी सलवार और चिकने-चुपड़े लाल गालों को देखकर लता ने कोई जवाब नहीं दिया। उत्तर में चुप रहना ही ठीक था।

इस बीच कपड़े बदलकर केशव भी आ गया। बोला, 'तुम दोनों क्या खड़ी-खड़ी ही बातें करती रहोगी? लता को बैठाओ, नाश्ता कराओ।'

चाय पीते-पीते केशव बोला, 'अब बताओ लता। इतनी देर तक तो फिजूल की बातें होती रहीं, असली बात तो कुछ पूछी ही नहीं। तुम अपना हाल सुनाओ। चाचाजी कहाँ और कैसे हैं।'

'पिताजी की तो मृत्यु हो गयी, शायद तुम्हें पता नहीं।' लता ने धीरे-धीरे कहा। 'बहुत दिनों से पिता जी बेकार थे। और बुढ़ापे में किसीकी मुंशीगीरी क्या करते, तो भी बहुत कोशिश की। इस दौड़-धूप और चिन्ताओं की वजह से उनकी सेहत दिन-ब-दिन बिगड़ती गयी। मृत्यु से छः महीने पहले ही एक दूकान में बही-खाता लिखने का काम मिल गया था। पर उससे गृहस्थी का खर्च नहीं चलता था। फिर भी बेकारी से तो बेगार भली।'

'इसके बाद?'

'इसके बाद क्या?' जैसे यह किसी अन्य व्यक्ति की कहानी हो, लता तो सिर्फ कहानी सुना रही हो, ऐसे ही निर्लिप्त स्वर में कहती गयी—'जरा कल्पना करो, अपने आप ही सब समझ जाओगे। बुड्ढे हैं, हाथ काँपता है। हिसाब का जोड़ लगाने में गलती होती, डाँट-फटकार सुननी पड़ती और महीना सिर्फ पचास रुपया मिलता था। और इसमें भी बीमारी की वजह से नागा इत्यादि का कुछ कट जाता। और भी सुनना चाहते हो? मेरे छोटे भाई रमेश को तुम्हें याद है न? तुमने जब देखा था, तब वह बहुत छोटा था। मैट्रिक में तीन बार फेल हुआ और अपने मुहल्ले की हाकी-टीम का कैप्टन बन गया। सारे दिन हाकी खेलता और आवारा की तरह घूमता-फिरता। लेकिन शाम होते ही खाने के लिये घर आ जाता।

अब बची मैं। दिन ब दिन बढ़ती जा रही हूँ, उनकी आँखों के सामने। लेकिन पिताजी की आमदनी नहीं बढ़ती। बड़ी हो रही हूँ, पर सुन्दर नहीं। सब कुछ देखते-सुनते हुए भी पिताजी कुछ देखना-सुनना नहीं चाहते थे। उन्हें नींद नहीं आती थी। इसी कारण अन्त मे बीमार पड़ गये। अन्तिम बार खाट पकड़ लेने पर भी वह प्रायः छः महीने जिन्दा रहे।'

केशव का चाय पीना बंद हो गया था। स्नेह-भरे स्वर मे बोला, 'बस, अब और कुछ नहीं सुनना चाहता। इसके बाद पाकिस्तान बना और तुमलोग किसी तरह देहली चली आयीं, यही तो। चाची भी यहीं है ? आजकल रमेश क्या करता है ?'

'माँ यहीं है। हम लोग किंग्सवे शरणार्थी कैंप में रहते है। रमेश कुछ नहीं करता, बेकार घमता है। पढ़ा-लिखा भी तो नहीं है। उसे नौकरी कौन देगा ?'

कुछ देर बाद खुद ही बोल उठी, 'अच्छा केशव भैया, अब मै चलूं।'

केशव ने कुछ सकुचाते हुए कहा, 'नौकरी--'

'अगर तुम्हारी इच्छा हो तो रख लो। बाप ने भी तुम्हारे यहाँ नौकरी की, अब बेटी भी करेगी। इसमे शर्म की कोई बात नहीं।' इधर-उधर देखकर बोली, 'तुम्हारे बच्चे कहाँ है ? कोई नजर नहीं आता।'

'बच्चे तो सिर्फ दो ही है। एक देहरादून मे पढ़ता है, और दूसरे को नौकर कहीं घुमाने-फिराने ले गया होगा। अभी थोड़ी देर मे आ जायगा।'

'अब और किसी दिन उन्हे देख लूँगी।' लता ने कहा : 'नौकरी नही दोगे, तो भी मै यहाँ आऊँगी।'

सदर दरवाजे तक केशव पहुँचाने आया। एकाएक लता ने कहा, 'यह कोठी तुम्हारी है न केशव भैया ?'

केशव ने कुछ शर्माते हुए स्वीकार किया--'हां, मेरी ही है। क्यों ?'

'कुछ नहीं, ऐसे ही पूछा। यह मोटर, यह फर्नीचर--सब-कुछ तुम्हारा

है। इसका मतलब कि तुम्हारा बिजनेस खूब अच्छा चल रहा है। मैं ने यों ही पूछ दिया, इसका कुछ ख्याल न करना। जब तुम्हारे यहाँ नौकरी करूँगी, तो फर्म का हाल-चाल जान लेना क्या जरूरी नहीं है ?'

इसमें सन्देह नहीं कि किस्मत के खेल भी अजीब है, नहीं तो, कैम्प जाते हुए लता ने सोचा, लायलपुर के केशव भैया से फिर मुलाकात होती ! और वह भी देहली में ?

नहीं तो इस अहंकारी परिवार से, जहां उसके पिता ने वर्षों नौकरी की, कब का सम्बन्ध टूट चुका है। इन केशव भैया के पिता के लिये उसके पिता ने क्या नहीं किया ? थोड़े से वेतन के बदले में वे इनके यहाँ ही बराबर पड़े रहते थे। तब क्या इन लोगों की ऐसी अच्छी हालत थी ? वकील साहब के लिये पिताजी खुद ही ढूंढ़-ढूंढ़ कर मुवक्किल लाते थे।

इसके बाद, लताने अपने पिता से ही सारी बातें सुनी थीं, कई क्रान्ति-कारियों के मामलों की पैरवी में केशव भैया के पिता बहुत मशहूर हो गये और फिर उनकी वकालत चल पड़ी, जैसे आकाश से रुपयों की वर्षा होने लगी हो।

केशव भैया के पिता स्थानीय नेता हो गये। जब प्रैक्टिस छोड़कर उन्होंने शिमला में रहने का इरादा किया, तब उन्होंने लता के पिता से एक बार यह पूछा तक नहीं कि तुम अपने परिवार का पालन-पोषण कैसे करोगे, तुम्हारी गुजर-बसर कैसे होगी।

पिताजी जब बीमार थे और आर्थिक अवस्था बहुत दयनीय थी, तब मां के कई बार कहने पर उसने वकील साहब को शिमला के पते पर एक चिट्ठी भेजी थी। लेकिन उसका कोई जवाब नहीं मिला।

परन्तु जिसकी किस्मत में दूसरे के आगे हाथ फैलाना ही लिखा है, वह करे भी क्या ? नहीं तो क्या उसे भी देहली आकर काम की तलाश में

मारी-मारी फिरना पड़ता और उसकी दरख्वास्त भी केशव भैया के यहाँ ही जायेगी, यह ही वह क्या जानती थी !

लेकिन केशव भैया अपने घरवालों की तरह घमण्डी नहीं हैं। जब वे लाहौर कालेज में पढ़ते थे, तब लता काफी छोटी थी। छुट्टियों में वे लायलपुर आते थे। बाहर रहते थे, इसलिये छोटे-से शहर में कौन बड़ा है और कौन छोटा, इसका वह कतई ख्याल नहीं करते थे। लाहौर से वे जब भी आते, तो अपने छोटे भाइयों के लिये फुटबाल, हाकी-स्टिक इत्यादि खेलने की चीजें और लता के लिये मिठाई तथा सुन्दर-सुन्दर गुड़ियां लाते। केशव भैया हँसते भी खूब थे, मजेदार कहानियाँ सुनाते थे। वे सब कहानियाँ अब याद तो नहीं है, सिर्फ उनके कहने का ढंग आज भी याद है।

केशव भैया अहंकारी नहीं है, इसका प्रमाण तो आज भी मिल गया। नहीं तो लता को न पहचानने का बहाना बहुत आसानी से बना सकते थे। अथवा पहचान कर भी उदासीनता और उपेक्षा दिखा सकते थे। अपने घर ले जाकर चाय पिलाने की क्या जरूरत थी ? लता सिर्फ एक मामूली नौकरी की उम्मीदवार है। यही नहीं, बल्कि डिग्री के ख्याल से उसकी योग्यता सबसे कम है।

केशव भैया का कालेज में पढ़ना खत्म हुआ। वे किसी सरकारी नौकरी में नहीं गये। खाने-पीने की तो कोई कमी थी ही नहीं। उन्होंने व्यापार करना शुरू किया। इन कई वर्षों में ही उनका व्यापार काफी बढ़ गया है। कांग्रेसी नेताओं पर उनके पिता का काफी प्रभाव था। अब उस प्रभाव का पूरा-पूरा फायदा उठा रहे हैं। कोटा, परमिट और लाइसेंस खूब मिल रहे हैं। अगर ऐसा न होता तो इन कई वर्षों के भीतर ही नयी दिल्ली में ऐसी अच्छी और शानदार कोठी बनवाना क्या सम्भव था ? ऐसी सुन्दर मोटर खरीदी जा सकती है ? आँखों को मोह लेनेवाला ऐसा सुन्दर फर्नीचर ?

लेकिन केशव भैया की पत्नी हद से ज्यादा मोटी हो गयी है। क्यों नहीं

मुटायेगी, अच्छा खाना और पहनना। न कोई काम-धाम, हमेशा आराम-ही आराम। मुटापे के लिये और चाहिये ही क्या?

केशव भैया की जब शादी हुई थी, तब लता किशोरावस्था में थी। शरीर का पूरा विकास नहीं हुआ था, देखने में छोटी ही लगती थी। माँ-बाप भी बच्ची ही समझते थे। कम-से-कम यह सोच-समझकर उन्हें मानसिक शान्ति मिलती थी।

केशव भैया का विवाह बहुत धूमधाम से हुआ था, उसे अब भी याद है। शादी के एक महीने पहिले से ही जैसे मकान में मेला लग गया था। कपड़ेवाले तरह-तरह के कपड़े-लत्ते ला रहे थे, मिठाइयां और पकवान बन रहे थे, गहने लिये सुनार चले आ रहे थे। सात दिन तक लोगों की बराबर दावत हुई। बहू के साथ केशव भैया ने कोठी में पैर रखा, तो सर्वप्रथम उनका स्वागत करनेवालों में लता भी एक थी।

उस समय कान्ता बहुत सुन्दर थी। पर उसका दिमाग शुरू से ही ऐसा था। लता ने सुना था, कान्ता अमीर बाप की बेटी नहीं है। उसके बाप की अवस्था मामूली से कुछ अच्छी है। शायद इसीलिये कान्ता जब-तब इसे-उसे अपना बक्स खोलकर दिखाने बैठ जाती। कितनी साटन की सलवारे हैं, कितने मखमल और कीमती कपड़ों के सूट हैं, बनारसी साड़ियां भी हैं और किसका कितना दाम है। मोती और हीरे के हार भी हैं। सोने के कड़ों में कितने तोला सोना है और अंगूठियों का तो कोई हिसाब ही नहीं।

और आज लता को पहचानने में भी कान्ता को वक्त लगा। लेकिन उस समय उसी को सब चीजे निकाल-निकालकर बार-बार दिखाती थी। शायद सोचती होगी, इस गरीब घराने की लड़की को ऐसे जेवर, कपड़े-लत्ते और दूसरी चीजे देखना कहाँ नसीब होगा। यह राजसी ठाट दिखाओ, दिखा-दिखाकर ईर्ष्या और जलन से इसे राख कर दो।

और लता की भी बलिहारी है। कान्ता के पीछे-पीछे खुद वह क्या कम घूमी है। जरा भी फुर्सत मिलते ही वह कान्ता के यहां दौड़ जाती थी।

केशव भैया के कहीं बाहर जाते ही कान्ता के खास कमरे में दाखिल हो जाती।

और पटरानी कान्ता उस वक्त शायद पलंग पर ही पड़ी रहती, सुख और संतोष का आलस्य दूर करती रहती। तृप्ति से पूर्ण अपनी अधखुली आँखों से देख कर कहती--आओ लता, आओ। अभी तक उठी नहीं हूँ, पलंग पर ही पड़ी हुई हूँ, यह देखकर तुम्हें आश्चर्य हो रहा होगा, क्यों ? अरे भई, क्या बताऊँ कल से बड़ी सर्दी हो गयी है। और अभी-अभी तो तुम्हारे भैया उठकर गये हैं। वे तो मुझे छोड़कर कहीं जाना ही नहीं चाहते। मैं कितना कहती हूँ कि मुझे इन्फ्लुएंजा है, मुझे मत छुओ, यह छूत का रोग है। इस कमरे में ज्यादा न रहो। मना करने पर वह और भी ज्यादा तंग करते हैं। एकदम चिपट कर सो जाते हैं, एक ही तकिये पर सिर रखकर—

ऐसी-ऐसी बातें सुनकर लता की आँखें नाच उठतीं, हृदय की धड़कन तेज हो जाती और शरीर रोमांचित हो उठता। छोटी लगने से क्या होगा, उस वक्त वह सोलह साल की थी। शरीर भले ही न बढ़ा हो, लेकिन मन में लहरें उठनी शुरू हो गयी थीं।

दुनिया में कैसी-कैसी विचित्र बातें होती हैं, मनुष्य का मनुष्य के साथ कसा और कितना विचित्र संबंध है ! कहानी, कविता, उपन्यास में जिसका सिर्फ अस्पष्ट उल्लेख रहता है, वे सब बातें ही भुक्त-भोगी के मुख से सुनने में एक अजीब आनंद है, रोमांच है--चोरी से मक्खन खाने के समान है।

और कान्ता उससे सब बातें कहती थी, पलंग पर लेटे-लेटे, बिखरे हुए कुन्तल, इधर-उधर सिंदूर के दाग, बिछौने की चादर में जगह-जगह सलवटें पड़ी हुई। धीमी आवाज में फिस-फिस करती हुई कान्ता सब बताती, एक-एक रात का शुरू से आखिर तक का पूरा-पूरा इतिहास। सुनते-सुनते जैसे लता के शरीर में भी बिजली दौड़ जाती। कुछ देर बाद वह उठ खड़ी होती।

'अरे वाह, तुम अभी से चल दी ?' कान्ता कहती। सारा हाल न सुना पाने के कारण उसके स्वर में क्षोभ छिपा रहता।

'नहीं भाभी। गला सूख गया है। अभी पानी पीकर आती हूँ।'

'मेरे लिये भी एक गिलास पानी लेती आना।' अपनी गोल-गोल चमकीली आँखों को शरारत से नचाते हुए कान्ता कहती—'अमृत जैसी यह कथा महाभारत के अठारहवें पर्व के समान है—तुम सुनते-सुनते थक जाओगी।'

उन दिनों लता को भी ये बातें सुनने में बहुत मजा आता था। जिस व्यक्ति ने खुद कभी नशा नहीं किया, वही मानो हर रोज नशेबाज के पास आकर बैठता है, नशे का प्रलाप सुनने के लिये। लता जो हर रोज आती थी, तो क्या वह सिर्फ कपड़े-लत्ते और गहनों की नुमाइश देखने ? अच्छे कपड़े उसके पास नहीं हैं, महंगा और चटकीला कपड़ा पहनने में क्या सुख है, इसकी तो कल्पना भी की जा सकती है; पर पति-सुख की..........कल्पना नहीं होती।

एक किशोरी की उमंगों को जगाने में, तरसाने में कान्ता को कौनसा सुख मिलता था। क्या मालूम ?

इसके बाद जिस घटना के फलस्वरूप कान्ता के यहाँ लता का जाना बंद हुआ, आज भी उसकी याद आते ही वह शर्म से सिकुड़ जाती है।

अच्छी तरह याद है। शाम का वक्त था। वह केशव भैया के यहाँ गयी थी। शायद कोई त्योहार था। सब लोग आंगन में बैठे थे। उसी वक्त किसी ने पूछा—'केशव की बहू कहाँ है ?'

'केशव की बहू ? वह अपने कमरे में है। आज केशव कहीं बाहर नहीं गया। सिर में दर्द है, इसलिये कमरे में ही पड़ा हुआ है।' दूर के रिश्ते में मौसी लगने वाली एक प्रौढ़ा ने कहा।

सब लोग मंद-मंद मुस्कुराये।

और उसी वक्त लता को न जाने क्या हुआ कि उसके कान अपने आप

ही गरम हो उठे। किसीसे बिना कुछ कहे-सुने ही वह वहाँ से चुपचाप सरक गयी। एक विचित्र कौतूहल, अजीब उत्तेजना! आँखों से देखने में जो मजा है, वह भला इतने दिनों से सुनने पर मिट सकता है ?

आज लता अपनी आँखों से सब कुछ देखेगी। एक नवविवाहित दम्पति को एकांत में, शाम के वक्त उनके शयन-कक्ष में चुपचाप छिपकर देखने का लोभ रोकना असंभव है।

आंगन के बाद बैठक है। उसके बाद ही दोनों कमरे केशव के हैं। दरवाजा बन्द है। धड़कते हुए दिल से लता ने दरवाजे में कान लगाया, लेकिन कुछ सुनायी नहीं पड़ा। लौटकर बैठक मे चली आयी। इतनी जल्दी हार मानने को वह तैयार न थी। इस मकान का कोना-कोना वह जानती है।

बैठक के पीछे एक बहुत पतली और संकरी-सी गली है। उस गली में मकान की फालतू और अटर-सटर चीजें रखी रहती थीं। इस गली के अंत में एक कमरा और है। उस कमरे को ही कान्ता ने अपना ड्रेसिंग रूम बना रखा है। दबे पैरों चुपके-चुपके लता उस कमरे में पहुँच गयी। उसे अपने दिल की धड़कन सुनाई दे रही थी। चारों ओर एक दम शांति थी। कमरे में घुसते ही ड्रेसिग टेबुल पर छाया पड़ी। लता जरा चौंकी और उसने बगल वाले कमरे की ओर देखा।

दोनों कमरों के बीच एक मोटा-सा पर्दा पड़ा हुआ था। कोई नहीं आयेगा, इसी विश्वास पर उनके कमरे का दरवाजा आधा बंद था और आधा खुला हुआ। ड्रेसिग टेबुल कमरे के एक कोने मे थी, उसके सामने रक्खी हुई कुर्सी पर बैठने से बगल वाले कमरे का सारा हाल साफ-साफ दिखाई देता था। लेकिन आधा दरवाजा बंद होने के कारण उसे कोई नहीं देख सकेगा। इस कमरे में अंधरा था, यह भी एक सुविधा थी।

एकाएक खिलखिलाकर हँसने की आवाज सुनते ही लता उत्तेजित हो उठी। अपनी आँखोंको यथासंभव चौड़ा कर उस कमरे में देखने लगी।

पलंग पर पैर फैलाये कान्ता बैठी है। उसकी गोद में माथा रक्खे केशव लेटा हुआ है। कान्ता की आवाज सुनायी पड़ी—'ठीक से लेटो, नहीं सिर कैसे दबाऊंगी ?'

केशव ने करवट बदली : 'सिर दबाने की जरूरत नहीं, तुम आओ। उसने अपने दोनों सबल हाथ बढ़ाकर कान्ता का मुंह चूम लिया। उसे रोकते हुए भी मानों कान्ता स्वयं भी कुछ झुक गयी : 'यह सब तुम्हारे बहाने हैं। यही तुम्हारे सिर में दर्द है ?'

इसके बाद फिर पहले जैसी हँसी।

और ड्रेसिंग टेबुल के सामने बैठी हुई लता का सारा शरीर सन्न पड़ गया। अब इसके बाद क्या ?

मेज पर लैंप जल रहा था। कान्ता फूंक मारकर उसे बुझाना चाहती थी। केशव कुछ अस्वाभाविक आवाज में कह रहा था—जलने दो न।

अब और क्या ? क्या लता की सांस जोर से चल रही है, या एक दम बंद हो गयी है ? मेज पर न जाने क्या रखा था, उसे पकड़ने के लिये लता ने हाथ बढ़ाया। और वैसे ही वह चीज झनझन आवाज के साथ नीचे गिर पड़ी। फिर क्या हुआ, यह अच्छी तरह याद नहीं। लता का सिर चकरा रहा था। आवाज के साथ-साथ आधा बंद दरवाजा फौरन खुल गया था, यह याद है। वे दोनों दौड़कर उस कमरे में आ पहुँचे थे। अपनी अस्त-व्यस्त धोती और जम्पर के बटन जल्दी-जल्दी बंद करती हुई पहले कान्ता घुसी थी और उसके पीछे-पीछे हाथ में लैंप लिये केशव था।

'कौन ? कौन है ?' हांफते-हांफते कान्ता ने पूछा था। अपनी अस्त-व्यस्त साड़ी को भी ठीक करने का समय कान्ता को नहीं मिला था। जैसी हालत में थी, वैसी ही दशा में दौड़ती हुई चली आयी थी। उसकी ओर विह्वल दृष्टि से देखते हुए रुंधे गले से लता सिर्फ इतना ही कह पायी थी—'मैं हूं भाभी।'

'मैं कौन ?'

'मैं—लता।'

तब तक केशव ने उसके मुँह के सामने लैंप कर दिया था—'तुम? इस वक्त तुम यहाँ?'

कोई बहाना बनाने का मौका ही उसे नहीं मिला, क्योंकि उसके पहले ही तीखे स्वर में कान्ता बोल उठी: 'तुम्हारे क्या आँखें नहीं हैं जो उससे पूछ रहे हो? देखो न, उसके हाथमें क्या है? है, अंगूठी और कंगन।' अपना आंचल ठीक करते हुए और अपनी आँखें लता पर गड़ाये हुए कान्ता कह रही थी—'हूँ, यह बात है? इस कमरे में पीछे से आने का रास्ता भी तुम्हें मालूम है, अब समझी। पर शाम को मुँह धोने के समय ये चीजें मैंने पाउडर केस में रक्खी थीं, इसका पता तुम्हें कैसे चला? शायद छिप कर देख रही थीं।'

अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं था। अंधकार में उत्तेजित हो उसने मेज पर रखे हुए कंगनों को ही जोर से पकड़ लिया था, इसमें संदेह नहीं। इसका प्रमाण अब भी उसकी खुली हुई मुट्ठी में था।

'छी, छी, छी।' कान्ता ने धिक्कारा, 'यह जरा-सी तो लौंडिया है, लेकिन इसके पेट में इतनी लंबी दाढ़ी है! पहनने का इतना ही शौक था, तो मुझसे मांग लिया होता। चोरी करने क्यों आयी? तुम ऐसी हो, तुम्हारी ऐसी नीच प्रवृत्ति है? हाँ, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है। गरीब घर की लड़की है, और गरीब लोग तो हमेशा ऐसे ही काम करते हैं।'

सिर झुकाये हुए लता सब सुनती रही। उसके चेहरे का रंग उड़ गया था, वह कांप रही थी। अपनी सफाई में उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। एक बार भी वह यह नहीं कह सकी कि हां, वह चोरी करने ही आयी थी, लेकिन कंगन या अंगूठी चुराने नहीं।

लेकिन केशव ने एक शब्द भी नहीं कहा। काफी देर बाद हाथ पकड़ कर उसे दरवाजे तक पहुँचा गया था।

यह घटना और किसी भी चौथे व्यक्ति को मालूम नहीं हुई। लेकिन तो भी लता उस मकान में फिर नहीं गयी।

कान्ता को क्या ये सब बातें अब भी याद हैं ? अपने कैम्प में पहुँचकर नल के नीचे ठंडे पानी से नहाते हुए लता ने सोचा। उसे तो आज कान्ता एक बार में पहचान भी नहीं सकी। अगर वह अपने हृदय में मनुष्य को भी नहीं रख सकती, तो फिर उसे इन सब बातों की क्या याद होगी ?

इस घटना के कुछ दिनों बाद ही वे लोग वहाँ से चले आये। केशव भैया स्थायी रूप से देहली ही में रहने लगे। फिर कान्ता भी कभी लायलपुर नहीं गयी। केशव भैया एकाध बार जरूर आये थे लेकिन लता उनके सामने नहीं गयी। और कुछ दिनों बाद केशव के पिता भी शिमला जाकर रहने लगे। अब आज कई वर्ष बाद कान्ता से मुलाकात हुई।

आज उसे देखकर कान्ता को क्या ख्याल हुआ होगा ? करुणा ? वह तो है ही। और ? काफी बरसों पहले उत्तेजक और रोमांचक कहानियाँ सुनाकर उसने जिस किशोरी के मन मे भोग-विलास की तीव्र लालसायें जगा दी थीं, वह आज भी कुमारी है——यह देख कर उसे आश्चर्य हुआ होगा ? आश्चर्य होना ही संभव है।

लता ने कपड़े बदले। लालटेन जलाने गयी, तो देखा कि तेल नहीं है। मुँह ढके एक कोने मे माँ पड़ी है : 'मा, क्या बुखार आ गया ?' माथे पर हाथ रखकर उसने उत्कंठा से प्रश्न किया।

'हूँ।' करवट बदलते हुए मा ने जवाब दिया : 'तेरी नौकरी का क्या हुआ ?'

'नौकरी क्या इतनी आसानी से मिलती है, मा। आज तो सिर्फ इंटरव्यू थी। अकेली मैं ही तो नहीं हूँ। मेरी तरह और भी पचासों लड़कियाँ उम्मीदवार हैं। अब दो चार दिन बाद कुछ खबर मिलेगी। हाँ मा, तुम जानती हो, आज नौकरी की अर्जी लेकर जहाँ गयी थी, उस कम्पनी का बड़ा मालिक कौन है——वही हमारे लायलपुर के केशव भैया।'

ज्वर से लाल हुए मा के मुख पर उत्सुकता नजर आयी : 'अच्छा ! केशव ने क्या कहा ? पहचान गया न ? नौकरी देगा ?'

मा के पास दरी बिछाकर लता लेटने जा रही थी कि मा ने पूछा—'कुछ खायेगी नहीं ?'

'नहीं मा, भूख नहीं है ।'—लता ने कहा । 'सारा कमरा कुछ गीला-गीला सा हो रहा है। क्या पानी फैल गया था, मा ?'

'दिन भर बारिश हुई है', मा ने खाँसते हुए जवाब दिया : 'खिड़की मे किवाड़ तो हैं नहीं और ऊपर टीन की छत से भी पानी चूता है । तू कल कैंप आफिसर से कहना ।'

लता जानती है कि कहने से कोई फायदा नहीं । कैंप आफिसर ध्यान ही नहीं देगा ।

तीसरे दिन सुबह केशव का एक कार्ड मिला । लिखा था कि किसी दिन शाम को लता घर पर मिले ।

'मैं कहती नहीं थी', खुश होते हुए मा ने कहा, 'यह नौकरी तुझे ही मिलेगी ।'

केशव ने कहा, 'आओ लता, बैठो ।'

लता ने जवाब दिया, 'केशव भैया, स्वागत पीछे करना, पहले यह बताओ कि नौकरी का क्या हुआ ?'

'नौकरी भी लग जायगी । इतनी बेचैन क्यों होती हो ? सुनो, जिस नौकरी के लिये तुमने अर्जी दी थी न, उस जगह पर इस महीने किसीकी नियुक्ति नहीं होगी । हमारे बोर्ड आव डायरेक्टर्स ने यही निश्चय किया है । स्टाफ कम किया जा रहा है । ऐसी हालत में यदि एक नया स्टेनो नियुक्त कर दूँ, तो कर्मचारियों की यूनियन की तरफ से नाना प्रकार की आपत्तियाँ हो सकती हैं । अगले महीने एक-दो क्लर्क लिये जायेंगे, तब तुम्हें भी रख लिया जायगा ।'

पर मुझे तो आज ही नौकरी चाहिये, केशव भैया ?' लता ने जैसे रुंधे स्वर में कहा ।

'क्या करूँ ? तुम ही बताओ न ? मेरे भी तो हाथ बँधे हुए हैं। कम्पनी मेरी है, लेकिन अपने इच्छानुसार काम करने का मुझे अधिकार नहीं है।'

उस दिन मानो कान्ता ने भी लता के साथ कुछ ज्यादा अच्छा ही व्यवहार किया। अपने साथ घुमा-फिरा कर उसे सारी कोठी दिखायी— 'हर कमरे के साथ लगा हुआ बाथ रूम है। यह मेरा ड्रेसिंग रूम है। गैरेज के ऊपर नोकरों के लिये दुछत्ती है। पियानो। नहीं, मैं नहीं बजाती, लेकिन खरीद लिया है। वह हरिन का सींग नहीं है लता, बिजली की रोशनी है। बटन दबाते ही कमरे में चाँदनी जैसी रोशनी छा जायगी, ठीक जैसे शरत् -पूनो की चाँदनी।'

लता को यह सब कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। लेकिन फिर भी हर चीज को देखना पड़ रहा था। हँसी भी आ रही थी, कान्ता अब तक नहीं बदली; अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने की वही पुरानी आदत है।

'खर्चा-खर्चा,' कान्ता कहे जा रही थी, 'वे बहुत खर्चीले हैं। यह फोटो ही देखो न, आज से दस साल पहले की है। कहते हैं कि शादी के ठीक दो दिन पहले ही उतरवायी थी। इस फोटो को कैसे अच्छे फ्रेम में जड़वाया है। यह हाथी दाँत का फ्रेम है। इसका दाम डेढ़ सौ रुपया है, सिर्फ फ्रेम का। और शौकीनी की जितनी चीजें तुम देख रही हो न, वे सब उन्हीं की खरीदी हुई हैं। जहाँ जो चीज पसन्द आयी कि झट खरीद ली।'

'अच्छा।' सूखी आवाज में लता ने कहा। असल में उसकी आँखें जल रही थीं। यह एक दम्पति है जो सिर्फ सुख के झूले में ही झूल रहा है। मतलब-बेमतलब पैसे खर्च कर रहा है। हजारों रुपये की चीजें खरीद कर अजायब घर की तरह मकान को सजाया है और दो दिन बाद रुचि-परिवर्तन होते ही इन चीजों को निकाल दिया जायगा। नहीं तो सिर्फ फोटो जड़वाने के लिये ही डेढ़ सौ रुपये का फ्रेम ! अगर ये ही डेढ़ सौ रुपये लता को मिल जाते तो कम से कम डेढ़ महीने के लिये वह निश्चिन्त हो जाती।

चलते वक्त केशव ने कहा, 'बीच-बीच में मिलती रहना लता। तुम्हारे लिये मैं और भी दो-तीन जगह कोशिश कर रहा हूँ। देखूं क्या होता है।'

सड़क पर आकर लता ने सोचा, केशव भैया में तो भी कुछ मनुष्यत्व है। उसके परिवार के प्रति उनके पिता ने जो अन्याय किया है, उसे वह समझ गये हैं और इसी कारण क्षति-पूर्ति के लिये केशव भैया का आन्तरिक आग्रह है।

कुछ दिनों बाद लता प्रायः रोज ही आने लगी। मा खुद ही उसे जबर-दस्ती भेज देती, 'रोज-रोज जाना चाहिये, नहीं तो उसे ख्याल कैसे रहेगा ? अपनी गरज है।'

नहीं तो इस मकान में आने के लिये लता के उत्साहित होने का कोई कारण नहीं था। यहाँ आते ही लता को सिर्फ शान-शौकत और बेमतलब की बातें सुननी पड़ती थीं। क्या-क्या और कौन-कौन-सी नयी चीजें खरीदी गयीं, कैशमेमो दिखाकर सारा हिसाब बताया जायगा। ठीक ईर्ष्या न भी हो, लेकिन फिर भी ये सब बातें लता को अच्छी नहीं लगती।

कान्ता के पास बहुत रुपया है, उम्र बढ़ गयी है, दो बच्चों की मा भी हो गयी, पर उसमें अब तक गम्भीरता नहीं आयी, मन की दीनता नहीं मिटी। पियानो की झालर वेनिस से आयी है, यह सुनकर और जानकर क्या होगा ? किसी चीज के दाम सुनते ही लता के मन में अपने आप ही हिसाब लग जाता : इस रकम के जरा से अंश से मा के लिये दवा और फल आ जाते। पाँच-सात रुपये की सलवार और कमीज ही जिसके पास सबसे अच्छी पोशाक हो, उसे अठारह रुपये गज की साटन की सलवारें क्यों दिखायी जाती हैं ?

लता थक जाती। पूछती—'केशव भैया से तुमने नौकरी के सम्बन्ध में कहा था ?'

'कहा था भई, कहा था। अब तो तुम जैसे इन्तजार ही नहीं करना चाहतीं। मर्दों के साथ बैठकर दफ्तर में तुम लोग कैसे काम करती

हो, यह मेरी समझ मे नहीं आता।' जरा रुककर लता की ओर गौर से देखते हुए कान्ता नें कहा, 'और तुम्हारे भैया को लड़की-क्लर्क रखने का ही शौक क्यों चर्राया है, यह भी समझ में नहीं आता। शायद पुरुषों से काम नहीं होता!'

बीच-बीच में लता को ऐसा संदेह होता कि केशव से उसका मिलना-जुलना कान्ता को विशेष पसन्द नहीं। कभी-कभी कान्ता कह भी देती—'लता, तुम्हें देखकर ईर्ष्या होती है। तुम आजाद हो, स्वच्छन्द हो, जहाँ इच्छा हो, वहाँ घूम-फिर सकती हो। न कोई चिन्ता और न फिक्र। और हम गृहस्थी के चक्कर में ऐसे फँस गये है कि इससे फुर्सत ही नहीं मिलती। घर-गिरस्थी का चक्कर ऐसा ही होता है। क्यों, ठीक है न?'

ईर्ष्या और वह भी लता से? आईने मे अपनी छाया देखकर लता को हँसी आ गयी थी। चौबीसवाँ वर्ष भी खत्म होने को आया, शरीर और मन में जो फूल खिले थे, वे सब मुरझा गये और अब सिर्फ सूखा डन्ठल मात्र रह गया है। ये काली निस्तेज आँखें, सूखा हुआ चेहरा और लकड़ी जैसे पतले-पतले हाथ-पैर—इनसे भी ईर्ष्या!

रसोइये को कुछ बताने कान्ता बाहर चली गयी थी। घूम-फिर कर लता कमरे को अच्छी तरह देखने लगी। नुमाइश में शो-केशों में जैसे चीजें सजी रहती है, वैसे ही इन सब चीजों के दाम भी लिखकर क्यों नहीं लगा देती। ऐसा करे तो, बहुत बड़ा भार हल्का हो जाय। अतिथियों को चीजों के दाम बताते मुँह दुखाना नहीं पड़ेगा।

मेज पर से उसने केशव की फोटो उठा ली। उलट-पलट कर फ्रेम को देखने लगी। हाथी दांत का फ्रेम है—इसकी कीमत डेढ़ सौ रुपया है। अगर इस फ्रेम को निकालकर वह ले जाय, तो कैसा हो? पुराने फ्रेम क्या नहीं बिकते? ज्यादा नहीं तो पचास-साठ तो मिल ही जायेंगे।

पचास रुपये भी अगर मिलें, लता हिसाब लगाने लगी, तो मा के लिये फल, दूध और दवा सबका प्रबन्ध हो जाय और थोड़े से रुपये बाकी भी बच

रहें। बाकी रुपयों से वह अपने रोज के पहनने के लिये दो सलवारें और कमीजें बड़े मजे में बनवा सकती है।

उसी वक्त अपने पीछे पैरों की आहट सुनकर लता चौंक उठी। इस बार फिर वह चोरी करने के अपराध में पकड़ी गयी। फोटो को फ्रेम सहित अपने दुपट्टे में छिपा ले या मेज पर ही रख दे, यह स्थिर कर सकने के पहले ही कान्ता कमरे में दाखिल हो चुकी थी।

लता के दिल की धड़कन जोर से चलने लगी। बस, अब कान्ता फट पड़ेगी, सैकड़ों गालियाँ देकर उसे मकान से बाहर निकाल देगी।

कान्ता कुछ देर आँखें मटकाये खड़ी रही। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की हँसी खेल गयी--'तुम शायद फोटो देख रही थीं। इसमें वे बहुत सुन्दर लगते हैं, क्यों? जिस समय की यह फोटो है, उस वक्त तो तुमने उन्हें सैकड़ों बार देखा होगा। ठीक कहती हूँ न? मेरे पास इस फोटो का एक प्रिंट और है, वह तुम्हें दे दूँगी।' फिर बहुत ही मजाक के स्वर में बोली-'मनुष्य को देखकर जी नहीं भरता, शायद इसीलिये लोग अपने पास फोटो रखते हैं? मैं सब समझती हूँ बहन!'

जबरदस्ती मुस्कुराना पड़ा, इसलिये मुस्कुरा दी। नहीं तो उस समय गले के नीचे पानी भी नहीं उतरता। जरा देर बाद बोली--'अच्छा भाभी, अब मैं चलूँ।'

'अरे वाह, इतनी जल्दी क्या है?' कान्ता ने कहा: 'ठहरो, उस कमरे में तुम्हारे केशव भैया हैं, उन्हें जरा बुला लाऊँ?'

कहते-कहते बगल वाले कमरे का पर्दा हटाकर कान्ता घुस गयी। धीरे-धीरे कई मिनट बीत गये। जितनी देर हो रही थी, लता उतनी ही बेचैन होती जा रही थी। बिना कुछ कहे-सुने भी वह जा सकती थी, लेकिन यह जरा बुरा-सा लगता। उसने दो-चार बार कमरे में हलके पाँव चहल-कदमी भी की। फिर पर्दे के पीछे जाकर खड़ी हो गयी। वहाँ से बगल वाले कमरे की बातचीत स्पष्ट सुनायी पड़ रही थी।

कान्ता की आवाज सुनाई पड़ी। स्वर धीमा लेकिन तीखा था—'मैं उसे यहाँ आने के लिये मना कर दूंगी। मना करूँगी, करूँगी, और जरूर करूँगी। रोज-रोज वह यहाँ क्यों आती है ?'

'ओहो !' केशव का चिढ़ा हुआ स्वर सुनायी दिया, 'नौकरी के लिये आती है और क्यों आती है ? तुम यह नहीं जानतीं ?'

'और कहीं नौकरी नहीं है ? दुनिया भर को नौकरी देने की एजेन्सी शायद तुमने खोल रखी है ? नौकरी के लिये आती है या झख मारने ? आती है तुम्हें देखने। उसके हाव-भाव क्या मैं नहीं समझती ? आतेही उठाईगीरों की तरह इधर-उधर ताकना-झांकना शुरू कर देती है। असल में वह हमलोगों को देखकर जलती है। मैं जो इतने आराम और सुख से रहती हूँ, यह देखकर वह कुढ़ी जाती है। तुम मुझे इतना चाहते हो, यह देखकर भुन जाती है। हम दोनों जब आपस में बातें करते हैं या तुम हँसकर मुझसे कुछ कहते हो, तब वह अपने कान खड़े करके ध्यान से सुनती है। ऐसी गिद्ध दृष्टि से देखेगी जैसे समूचे को निगल ही जायगी। और जब तुमसे हँस-हँसकर बातें करती है, तो ऐसा लगता है, जैसे तुम्हारी गोद में लुढ़क पड़ेगी।'

'ओफ ! तुम कैसी ऊटपटांग बातें कर रही हो। वह सुन लेगी।'

'सुन लेगी, तो सुन ले। मैं तो उसे सुनाने के लिये ही कह रही हूँ। मैं क्या उससे डरती हूँ। कैसी बेहया, बेशर्म, नालायक—'

'चुप रहो। अपनी वाहियात बक-बक बंद करो।' केशव ने उसे फिर धमकाया। 'मैं उसे बचपन से जानता हूँ, अपनी छोटी बहिन की तरह।'

'छोटी बहिन की तरह—'कान्ता ने मुंह टेढ़ा करके कर्कश स्वर में कहा। 'ऐसी बहिनें मैंने सैकड़ों देखी हैं। अपनी फोटो को छाती से लगाकर अगर फोटो को चूमते हुए तुम अपनी आँखों से देखते, तो पता चलता !'

थर-थर पैर कांप रहे थे, इसलिये लता धीरे-धीरे एक सोफे पर आकर

बैठ गयी। माथे का पसीना पोंछने के बजाय दुपट्टे से उसने अपना मुंह ढँक लिया।

कुछ देर बाद ही उस कमरे से कान्ता बाहर निकली।

'तुम्हें मैंने बहुत देर तक बिठाये रखा, कुछ ख्याल न करना। इस फोटो को खोजने में देर लग गयी। यह लो।'

यंत्र-चालित की तरह हाथ बढ़ाकर लता ने फोटो ले ली। केशव भी शायद कान्ता के पीछे आया था। सूखे हुए गले से काँपती और भरी हुई आवाज में उसने किसी प्रकार दोनों से कहा, 'अच्छा, अब मैं जाती हूँ।' यह कहकर वह सड़क पर आ गयी। जब तक बड़ी सड़क से वह बस नहीं पकड़ लेती, तब तक उसे चैन नहीं।

यह सोचकर कि आज भी उसी मकान से चुपचाप सिर नीचा किये हुए निकलना पड़ा, उसके चेहरे पर एक कड़वी हँसी खेल गयी। एक बार भी वह यह नहीं कह सकी कि उसने यह फोटो क्यों उठायी थी। कह नहीं सकी कि चौबीस वर्षीया लता के लिये फोटो की अपेक्षा हाथी दाँत के फ्रेम का कहीं ज्यादा मूल्य है। और फिर कैंप में फोटो रखने की जगह भी कहाँ है ?

उसके हाथ में उस वक्त भी कान्ता द्वारा दी गयी केशव की फोटो थी। लता ने फोटो को एक बार देखा, फिर फाड़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और सड़क के किनारे की गन्दी नाली में टुकड़ों को फेंक दिया।

—o—

स्वप्न के आरपार मैं

सिगरेट समाप्तकर सतीश ऑफिस जाने के लिये तैयार होगा। इस बीच अखबार के पन्ने उलटकर वह देखेगा कि कोई खास खबर छूट तो नहीं गयी! आज तीन वर्ष से उसका जीवन यों ही चल रहा है। इस समय सुलता को काम रहता है, तब भी एक बार आकर वह खबर ले जाती है। अगर किसी दिन नहीं आ पाती, तो सतीश उसकी राह नहीं देखता।

और भी कई मिनट बीते। अब अधिक देर नहीं की जा सकती, अनिच्छा रहते हुए भी सतीश कुर्सी से उठकर, कमीज पहनते-पहनते सोच रहा था, भाग्य में जो होता है, वही मिलता है। सब को बहाव में डूबना पड़ता है। इच्छा का कोई मूल्य नहीं। सुख-दुःख का कोई विचार नहीं। कई बार उसने सोचा—ऑफिस नहीं जाऊँगा, दोपहर को लेटे-लेटे कोई उपन्यास पढ़ूंगा या सुलता के साथ कहीं सैर को जाऊँगा। आनन्द और उत्तेजना से खून तेज दौड़ने लगता है, हाथ पैर फैलाकर कुछ देर तक वह बिछौने पर पड़ा रहता है। पर यह ख्याल आते ही कि ऑफिस में कुर्सी खाली पड़ी रहेगी—उसे बेचैनी होती है। उसे आलस्य छोड़कर उठना पड़ता है और फिर बहाव की तरफ पैर बढ़ जाते हैं।

आज भी आरामकुर्सी पर पड़ा हुआ वह ऑफिस न जाने की सोच रहा था। न जाय तो कैसा हो? शिवदत्त मेरे जरूरी कामों को जरूर कर देगा। पहले वह एक सप्ताह बीमार पड़ा रहा, तब ऑफिस का काम बन्द हो गया था? नहीं। लेकिन, मनमें शंका होती है, कहीं कुछ गोलमाल

लगता है । हिसाब सही हुआ है फिर भी, ऐसा लगता है, मानो कहीं भूल है । सच है कि तुम उस्ताद की बेसुरी तान नहीं समझे, पर तुम्हारे कानों में कुछ खटका । पैर से कांटा निकालने के बाद भी ऐसा मालूम होता है, कि कांटे का क्षुद्रतम अंश मांस के अन्दर ही रह गया है ।

इससे ऑफिस जाना बहुत अच्छा है, शान्ति ।

सतीश उठा । थोड़ी देर में वह तैयार हो गया । सुलता आयी । सुन्दर युवती है, उज्ज्वल मुंह, स्वस्थ, सिर में घुंघराले बाल, बीस-इक्कीस वर्ष की होगी : 'देखो, आज दोपहर को ओखला जाऊँगी'—सुलता ने कहा, 'मा की कोई खबर नहीं मिली । तुमसे कई बार कहा कि ऑफिस से लौटते समय उनकी खबर ले आओ; पर तुम सुनते ही नहीं ।'

'बहुत अच्छा ! गोविन्द के साथ दोपहर को चली जाना और दाई को यहां देख-भालके लिये छोड़ जाना ।'

'गोविन्द की क्या जरूरत है ?'—सुलता ने कहा, 'मैं अकेली ही चली जाऊँगी, नहीं तो शाम तक बर्तन वगैरह ऐसे ही पड़े रहेंगे ।'

'सड़क पार करते वक्त होशियार रहना ।' ——सीढ़ी से उतरते-उतरते सतीश ने कहा ।

कुर्सी पर बैठा हुआ सतीश कलम चला रहा था और सोच रहा था, आज आफिस न आने में कोई हर्ज न था । आज काम भी कम है । अफसोस हो रहा है । सुलता शायद अब तक ओखला चली गयी होगी, नहीं तो आज मैटिनी शो में जाया जा सकता था । नारंगी रंग की साड़ी पहन-लेने पर वह बहुत सुन्दर लगती है । सतीश का मन खराब होने लगा । पर उसकी किस्मत तेज है । विलायत से टेलीग्राम आया है कि उनके ऑफिस का मैनेजिंग डायरेक्टर, जो वहां छुट्टी पर गया था, इन्फ्लुएंजा से मर गया । वह इतना खुश हुआ कि दावात उलटते-उलटते बची ।

अभी एक बजा है। अभी सारा दिन पड़ा है। और आज ही श्रीमती अपने पिताके यहाँ गयीं।

ऑफिस की छुट्टी हो गयी। उसने कोट पहना: 'सिनेमा चला जाय तो कैसा हो?' शिवदत्त ने कहा–'घर जा कर अभी क्या करोगे?' शिवदत्त उसका साथी है। एक ही मेज पर बैठकर वे आज पांच साल से काम कर रहे हैं। एक ही कम्पनी में उन्होंने बीमा कराया है: 'हां, यही ठीक है।' सतीश ने कहा, 'चलो चलें। घर जा कर क्या होगा? सुलता तो शाम को ही आयेगी।'

वे 'रीगल' सिनेमा पहुँचे और ऊँचे दर्जे के दो टिकट खरीदे। खेल शुरू होने में देर थी, दोनों बैठे-बैठे सिगरेट पी रहे थे और गप्पें लड़ा रहे थे।

घंटी बजी, बिजली की बत्तियाँ धीरे-धीरे बुझने लगीं। हॉल में प्रायः अन्धकार था, ऐसे वक्त क्षण भर के लिए सतीश ने सिर घुमाया–देखा सुलता, जार्जेट की साड़ी पहने है, काले रंग का ब्लाउज। सतीश की छाती की धड़कन बन्द हो जाती, लेकिन उसी वक्त शिवदत्त ने दूसरी ऐंग्लो इण्डियन लड़की की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया। सुलता के सामने आज किसी भी देश की हेलेन खड़ी नहीं हो सकती। लेकिन सतीश ठंडा हो गया, मृत की तरह। सुलता की कलाई पकड़े जो युवक उसे आगे ले जा रहा था, उसे सतीश ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। सुलता के जितने रिश्तेदार हैं, उन सबको सतीश पहचानता है। फिर यह युवक कौन है? तब क्या ओखला जाने का बहाना यों हीं बनाया था? सतीश आगे नहीं सोच सका। उसका शरीर ठंडा हो गया, निस्तेज।

बत्तियाँ बुझ जाने के कारण बिल्कुल अंधेरा हो गया। खेल आरम्भ हुआ। पर्दे की छाया छाया ही रही। सतीश के मन का दाग न तो छाया मिटा सकी और न कुछ अर्थ ही उसे समझा सकी। उसका सिर चकराने लगा। अँधेरे में यथासम्भव दृष्टि एकाग्र कर उसने फिर थोड़ी दूर पर

बैठे हुए, उन लोगों की कुर्सियाँ देखने की चेष्टा की; किन्तु अन्धकार में कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा। केवल ऐसा लगा कि सुलता उस युवक के शरीर से शरीर लगाये बैठी है। उसकी भूल भी हो सकती है। उसकी समझ में कुछ भी न आया।

'क्योंजी, उधर इतने ध्यान से क्या देख रहे हो?' शिवदत्त ने कुहनी मारते हुए कहा।

'नहीं, कुछ नहीं।' सतीश ने फिर पर्दे की तरफ देखा, सब बातें भूल जाने की चेष्टा की, खेल समझने की कोशिश की–लेकिन कुछ नहीं–उसे सब शून्य ही नजर आया। सोचा कोई बहाना बनाकर बाहर चला जाऊँ। लेकिन, क्या बहाना करूँ। बहाना करने की आवश्यकता नहीं, इससे अच्छा है चुप बैठा रहना। ऐसी कौन-सी बात हो गयी जो छटपटाऊँ। उसने अपनेको ही जरा धमकाया, स्थिर होकर बैठा: 'क्यों भाई, कैसा चित्र है?' सहज स्वाभाविक स्वरमें उसने शिवदत्त से पूछा।

'बहुत अच्छा। कुछ समय कट गया।'

इंटरवल।

'लो सिगरेट पीओ'–शिवदत्त ने पैकेट आगे बढ़ा दिया, 'कथानक और अभिनय दोनों ही प्रथम श्रेणी के हैं। क्यों?'

एक सिगरेट निकालकर सतीश ने कहा,—'हूँ, बहुत अच्छा है।'

दोनों ने सिगरेट जलाया।

'सचमुच हम सब स्नायविक विकारों के शिकार हैं', शिवदत्त ने कहा, 'हमें यह स्वयं नहीं मालूम, इनके विरुद्ध लड़ते-लड़ते हम जर्जर हो गये। सब अस्वाभाविक मनोवृत्तियां हैं। जीवन को सहज और सरल रूप में लेना हम भूल गये हैं, अपने ही विरुद्ध हम युद्ध कर रहे हैं, अंधों के समान।

'इसके लिये उत्तरदायी कौन है––जानते हो?' मानो सतीश ने सोते से चौंककर कहा,––'हमारी आधुनिक सभ्यता। सभ्यता नहीं शठता। चारों ओर भीषण षड़यन्त्र चल रहा है ––सिर्फ दूसरों को ठगने के लिये

नहीं; बल्कि अपने को ही। और सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि हम यह नहीं जानते। हम किसी का विश्वास नहीं करते। कर भी कैसे सकते है ? तुम किस पर विश्वास करोगे ? तुम्हारा भाई, मित्र, स्त्री ? तुम किसी का भी विश्वास नहीं कर सकते ! जो तुम्हें प्यारा है, जिसे तुमने आजीवन अपना ही समझा है--उसने ही तुम्हें धोखा दिया, विश्वासघात किया। इस अपराध के लिये क्षमा है ? नहीं।' सतीश सिगरेट के कश खींचने लगा।

'तुम बैठो, मैं आइसक्रीम लाता हूँ।' शिवदत्त ने कहा।

'खूब ठंडा होना चाहिये।'

'आईसक्रीम ठंडा नहीं होता तो और क्या होता है ?' शिवदत्त बाहर गया। कुछ देर बाद फिर चित्र आरम्भ हुआ। शिवदत्त लौट आया।

'आईसक्रीम मैं नहीं खाऊँगा, तुम ही खाओ।' सतीश ने कहा।

'तुम्हें क्या हुआ ? लो, लो, खाते भी जाओ और खेल भी देखो।'

सतीश ने निश्चय कर लिया कि जब तक मैं यहाँ हूँ, तबतक पीछे की ओर नहीं देखूंगा। मन को कातर बनाने से कोई लाभ नहीं। जो होता है, होने दो--विशेषतः तब जब मैं कुछ नहीं कर सकता।

शेष समय कैसे बीत गया, सतीश की समझ में नहीं आया।

'वाह, ऐसा चित्र बहुत दिनों से नहीं देखा था।' सन्तोष के साथ शिवदत्त ने कहा। सब खड़े हो गये। पर्दे पर राजा-रानी का चित्र।

सतीश ने फिर एक बार देखा। वे लोग भी उठ गये है; जाने के लिये तैयार है। उसने साफ-साफ देखा सुलता के साथी ने उसका सिर ढंका। तेज छुरी से मानो किसी ने सतीश का दिल चीर दिया। सोचा, दौड़कर सामने जा पहुँचूं, कोई बात पूछूं ! दो-चार पग वह आगे भी बढ़ा। पर इससे ही कौन-सी मानसिक शान्ति होगी ? मनुष्य के मन पर किसी का अधिकार नहीं है, यही बात वह बार-बार सोचने लगा।

वे बाहर निकले। भीड़ में जहां तक दृष्टि जाती थी, वहां तक सतीश

उन दोनों को देखता रहा। अब भी समय है, सतीश चाहे तो इस समय भी पकड़ सकता है। पर पकड़ने से लाभ नहीं। जो जा रहा है, उसे जहाँ भी इच्छा हो जाने दो। नदी के बहाव को कोई नहीं रोक सकता, आंधी को रोकना मनुष्य के वश की बात नहीं।

सतीश ने देखा कि वे दोनों रेस्तोराँ में घुसे।

'आओ जरा चाय पीयें।' उसने कहा—'तुम्हारी इच्छा नहीं है ?'

'क्यों नहीं है, चलो।'

पर्दे लगे हुए छोटे-छोटे कमरे हैं। सतीश और शिवदत्त पासवाली 'केबिन' में घुसे।

चाय और कुछ नमकीन चीजें उन्होंने खायीं। बीच-बीच पास की 'केबिन' से दोनों की हँसी की आवाज सुनायी दे जाती थी। घड़ीमें छ बजने में दस मिनट बाकी थे।

चाय खत्म कर के वे उठे।

और कहीं न जाकर सतीश सीधा घर ही आया। यदि रसोई में घुसते ही वह सुलता को जलपान बनाते हुए देखे, तो फिर इतनी देर तक उसने जिसे देखा है, वह सुलता नहीं और कोई दूसरी स्त्री होगी या सुलता की कोई बहन! हो भी सकती है। आश्चर्य क्या ? सुलता की बड़ी बहन को मैंने नहीं देखा है, वे शायद आगरा से आयी हों। यही सम्भव है। इतनी देर सतीशको वास्तव में लगा कि वह कोई दूसरी स्त्री होगी, सुलता नहीं। बाद सुलता की बड़ी बहन होगी। तब तो सतीश का रक्त तेजी से दौड़ने लगा। तब फिर कोई बात नहीं, बिना कुछ कहे-सुने ही मैं सुलता को आलिंगन-पाशमें आबद्ध कर चुम्बनों की भरमार कर दूंगा।

पर उसे चुम्बनों की भरमार नहीं करनी पड़ी, सुलता वहां न थी। गोविन्द से पूछने पर मालूम हुआ कि वह अब तक नहीं लौटी है। मैं चाय बनाकर दे सकता हूँ, अगर आज्ञा हो।

'नहीं, चाय नहीं चाहिये और कुछ खाऊँगा भी नहीं--तबीयत ठीक नहीं है।' बिना कपड़े उतारे ही सतीश बिस्तरे पर लेट गया, अर्द्धमृत अवस्था में।

कुछ समय कटा। कमरे में अन्धकार। मैं समझूँगा आज से सुलता मर गयी और सच, वह मर भी तो गयी। मरने के अतिरिक्त और क्या? इस संसार में बहुत से स्त्री-हीन व्यक्ति हैं, मैं भी आज वैसा ही हूँ, सुलता से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं—कुछ भी नहीं।

सारे मकान में शान्ति है। सिर्फ बराण्डे में रोशनी जल रही है। सतीशको प्रायः नींद आ गयी थी; एकाएक जूते की आहट से जग गया। कमरे में रोशनी हुई, सुलता। नींद का बहाना बनाये वह पड़ा रहा। उसे इस तरह पड़ा देख सुलता विस्मित हुई, आगे बढ़कर उसके माथे पर हाथ रखकर मृदु कंठसे उसने पुकारा। 'कौन? सुलता?' मानों एकाएक उसकी नींद खुली--'तुम कब आयीं? अबतक कहाँ थीं? और भी कहीं गयी थीं?'

'नहीं, और कहाँ जाऊँगी?' सुलता ने जूते उतारते हुए कहा, 'बहुत देर से आये हो न? ऐसे क्यों पड़े हो? तबीयत खराब है?'

'नहीं, तबीयत ठीक है। ऑफिस से लौटने के बाद कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। इसलिये लेट गया था। तुम्हारी मा कैसी हैं?'

'अच्छी हैं, आज एक जगह और गयी थी।' खुशी के स्वर में सुलता ने कहा।

'कहाँ?' सतीश उठ बैठा।

'अभी नहीं बताऊँगी, रात को कहूँगी।' सुलता कपड़ा बदलने चली गयी।

कुछ नहीं बताना होगा, मैं सब जानता हूँ--सतीश सोच रहा था--झूठी बात बनाने से क्या फायदा? तुम्हारा ख्याल होगा कि तुम्हारे इस अभिसार का कोई गवाह नहीं। पर, मैं तुमसे प्रश्न नहीं करूँगा। आज से

प्रेम का सम्बन्ध समाप्त हुआ; किन्तु सुलता क्या उससे कुछ कहना चाहती है ? यही लगता है ।

सतीश का मन शान्त हुआ। कमीज उतार कर उसने खूंटी पर टांग दी। स्वभाव के अनुसार चाय बनाने के लिये वह सुलता को पुकारनेवाला था। पर वह रुका, सुलता के हाथ की चाय पीना मानो विषपान करना है। उसे आश्चर्य हुआ कि घृणा से उसका शरीर रोमांचित क्यों नहीं होता ?

जब वह स्नान कर लौटा, तब उसका मानसिक ताप स्वाभाविक हो चुका था। सुलता पर प्रायः कोई क्रोध न था। और, क्रोध करने से लाभ भी क्या ? जिसके साथ वह सब सम्बन्ध तोड़ने जा रहा है, उससे रुष्ट होना मानसिक दुर्बलता के अतिरिक्त और क्या है ? सुलता को क्षमा कर दिया, अन्तःकरण से।

सुलता से कहना न पड़ा, वह स्वयं सतीश के लिये चाय बना लायी। सतीश ने बहुत ही निस्पृह भाव से हाथ बढ़ाया। चाय की एक चुस्की लेकर 'बहुत अच्छी' कहने की उसकी आदत है। पर आज वह चुप रहा। सुलता ने समझा तबीयत ठीक नहीं है।

रात को भोजन करते समय भी उसने कुछ न कहा, सुलता आश्चर्यान्वित हो गयी।

'तुम्हें क्या हुआ है ?'--सुलता ने पूछा--'चुप हो, बोलते क्यों नहीं !'

'क्या बोलूँ--कहो ?' तब--भोजन प्रायः समाप्त हो चला था।

'इतने दिनोंसे क्या बातें करते थे।' सुलता की भर्रायी हुई आवाज।

'आज सोच रहा हूँ कि हर रोज हम बेकार की बकवास करते थे, निरर्थक, अनावश्यक।'

बात क्या है ? सुलता प्रायः ठंडी होने लगी। सोचा, आज मन ठीक नहीं है, ऑफिस के काम मे कोई भूल हो गयी होगी, कभी-कभी ऐसा हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसने सतीश के मन की गति पर ध्यान दिया है।

सुलता ने और कुछ नहीं कहा। सतीश के उठ जाने के बाद उसने अकेले ही खाया। और दिन वे एक साथ खाते थे, आज सतीश ने उससे एक बार कहा तक नहीं।

सतीश नित्य उसकी प्रतीक्षा में जागता रहता है। आज सुलता ने कमरे में प्रवेश कर देखा—रोशनी गुल है, सतीश करवट लिये सो रहा है।

सुलता को नींद आ गयी। क्लान्त, अस्तव्यस्त। आधी रात को एकाएक सुलता आर्तनाद कर उठी। सतीश चौंककर उठ बैठा, सुलता को छाती से चिपका लिया, तब भी वह काँप रही थी।

'क्या हुआ? ऐसे चिल्ला क्यों पड़ी?' कोमल आवाज में सतीश ने पूछा—'डर गयीं? डर किस बात का? मैं तुम्हारे पास हूँ सुलता।'

'ओ, स्वप्न देखा था—भयानक-एक खराब स्वप्न।'

'क्या?'

'नहीं। तुम मत सुनो, बहुत खराब है।' सुलता ने सतीश की छाती में मुँह छिपा लिया।

'बताओ भी क्या?'

'स्वप्नमें देखा कि तुम गला दबा कर मार रहे हो।'

सतीश जोर से हँस पड़ा, सुलता को और भी छाती से चिपटा लिया। 'तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है,'—उसने कहा—'अब सो जाओ। आओ, मेरी छाती में मुँह छिपा कर सो जाओ।'

कई दिन बीत गये।

स्वप्न की बात सुलता भूल गयी और—सतीश ठीक हो गया। अब फिर वह पहले की तरह हँसता है। चाय की चुस्की लेकर कहता है—'बहुत अच्छी'।' उस दिन की वह घटना उसके मनसे प्रायः धुँधली हो गयी है। और भी कोई बात हो सकती है। संसार की सब घटनाएँ ही प्रेम की बातें नहीं हैं—यह बात पहले मेरी बुद्धि में क्यों नहीं आयी, इसका मुझे

दुःख है। सुलता के व्यवहार से, बात-चीत से सतीश के प्रति प्रेम में बिन्दुमात्र भी उसे कमी नहीं दिखायी देती। वह निश्चिन्त हो गया; आकाश के काले मेघ उड़ गये। सूर्य की आभा से सब दिशाएँ चमकने लगीं।

लेकिन फिर एक रात।

सुलता चिल्ला उठी--विकृत कंठ-स्वर, मानो साँस रुकी हुई हो।

'क्या हुआ ? सुलता, क्या हुआ ?'--सतीश ने डर कर कहा।

बिजली के उज्ज्वल प्रकाश में सुलता का फोका, रक्तहीन मुँह देख कर सतीश विचलित हुआ-'क्या हुआ ?'

'स्वप्न'-काँपती और डरती हुई आवाज में सुलता सिर्फ इतना ही बोल सकी।

'कैसा स्वप्न ?'

'भयानक--खराब।'

'खराब--भयानक।'

'हाँ... हाँ।'

'बोलो।' सतीश ने अनुरोध किया।

'देखा, तुम गला दबा कर मेरी हत्या कर रहे हो, मेरा गला नहीं छोड़ते।'

सतीश इस बार नहीं हँसा। बोला--'सुलता', तुम्हारी तबीयत अवश्य खराब है, एक अच्छे डाक्टर को बुलाने की जरूरत है। चलो, हाथ-मुंह धो कर सोओ।'

सुलता पलँग से उतरी।

'ऐसे खराब स्वप्न तुम क्यों देखती हो ?'

सुलता सिर्फ हँसी।

दूसरे दिन डाक्टर बुलाया गया। कहा, उन्हें कोई बीमारी दृष्टि में नहीं आती, स्वास्थ्य अच्छा ही है--स्नायविक विकार है।

दवा भी आयी और यथा रीति सेवन भी शुरू हुआ।

और एक रात।

सुलता गम्भीर निद्रा में थी, उसके निश्वासों की आवाज सतीश को अच्छी नहीं लग रही थी। दो-तीन बार इधर-उधर करवटें लेकर उसने सोने की चेष्टा की। लेकिन उसे नींद नहीं आयी। सुलता बार-बार ऐसे स्वप्न क्यों देखती है? कारण क्या है? यथार्थ जीवन में क्या यह सम्भव है? आँखें बन्द कर सतीश ने फिर सोने की चेष्टा की। वह ऐसा स्वप्न क्यों देखती है? कोई भी अपनी पत्नी का गला दबा कर हत्या कर सकता है? नहीं, ऐसी घटना तो उसने आज तक नहीं सुनी।, । हाँ, यह सच है कि कोई भी स्वस्थ पुरुष किसी भी स्त्री का गला दबा कर उसकी हत्या-कर सकता है और खास तौर पर जब स्त्री सो रही हो, तो यह काम सरलता से हो सकता है। पर किसी भी मनुष्य के लिये ऐसा करना सम्भव है? चाहे जितनी भी निष्ठुर प्रकृति का पुरुष हो और चाहे स्त्री ने कितना ही भीषण अपराध क्यों न किया हो! सुलता मेरे बगल में सो रही है, अगर चाहूँ तो हाथ बढ़ा कर उसका गला दबा सकता हूँ। सतीश ने फिर करवट बदली और सोने की चेष्टा की। हाँ, दबा सकता हूँ, पर किसी भी स्थिति में ऐसा कर सकता हूँ? मान लिया जाय कि सुलता ने कोई बहुत बड़ा अपराध किया, मानो वह विश्वासघातिनी है, नालायक है। मुझे आजीवन ही धोखा देती आयी है। तब भी क्या मैं उसका गला दबा सकता हूँ? विशेषतः स्त्री का? पर कैसा आश्चर्य है कि इच्छा करते ही मैं एक स्त्री के प्राण ले सकता हूँ, धीरे-धीरे सुलता के गले के नरम मांस में मेरी कड़ी उँगलियाँ घुस सकती हैं। यह सोचते हुए सतीश को अचम्भा हो रहा था। साँस की जो ध्वनि मैं सुन रहा हूँ, सदा सुनूँगा—उन साँसों को ही जरा साधारण चेष्टा करने पर मैं सदा के लिये बन्द कर सकता हूँ। पर मनुष्य से यह नहीं हो सकता, यदि मनुष्य ऐसा कर सकता, तो समाज न रहता, कोई शृंखला

न रहती। मानव की शक्ति के सब सूत्र झूठे हो जाते। वह क्या इच्छा होने पर ही कर सकता है—नीति नामकी कोई वस्तु क्या जीवन में नहीं है ? और इसी कारण जो इच्छा है, वह मनुष्य नहीं कर सकता, मनुष्य को अपना दुश्मन सदा सामने रखना पड़ता है। मनुष्य प्रवृत्ति का दास नहीं है, प्रवृत्ति मनुष्य की दासी है। सतीश ने फिर करवट बदली।

उनके बीच एक हाथका भी अन्तर नहीं था। वह स्पष्ट देख रहा था कि सुलता चित सो रही है, तकिये पर चारों तरफ बाल बिखरे हुए हैं।

क्या पता आज रात को भी वह उसी तरह डर कर चिल्ला उठे। कारण क्या है ?

बिना किसी कारण मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। अन्तर्मानसिक आकांक्षाओं की परिणति ही स्वप्न है। लेकिन, यह ऐसा क्यों सोचेगी ? तब क्या गुप्त रूप से उसने ऐसा कोई काम किया है, जिसके लिये वह अपने को अपराधी समझती है ?

वह कौन-सा अपराध कर सकती है ? विवाहित जीवन के तीन वर्षों से मैं सुलता को देख रहा हूँ। निरीह, शान्त, नम्र और भली है वह। पति के प्रति कर्त्तव्यों में एक दिन भी बिन्दुमात्र कमी नहीं हुई है।

किसी भी दिन उसके एकनिष्ठ प्रेम और चरित्र में तिल मात्र भी सन्देह करने का अवसर नहीं मिला है केवल एक दिन छोड़कर। पर वह युवक कौन है ? सुलता का कोई सम्बन्ध हो सकता है ? उसके दूर के सम्बन्ध का कोई भाई भी हो सकता है। सब सम्बधियों को थोड़े ही जानता हूँ। और...और, अगर मुझे सन्देह भी हो, तो साफ-साफ में सुलता से पूछ सकता हूँ। पूछना ही तो उचित है, कोई भी पति होता, तो वह यही करता— तब फिर मन के सारे काले बादल दूर हो जाते।

कल ही मैं सुलतासे पूछूँगा कि जिसके साथ तुम सिनेमा गयी थी— वह कौन है ? उसकी इच्छा हुई कि सुलता को जगाऊँ, पर इसी बीच एक झटके के साथ सुलता बिछौने पर बैठ गयी। अस्पष्ट अन्धकार में उसका भाव देख कर सतीश समझ गया कि क्या बात है। वह डर गयी है, सतीश चुप रहा, आँखें बन्द करके चुप पड़ा रहा।

'सुनो, सुनते हो ?' --सुलताने उसका शरीर हिलाया।

वह वैसे ही निस्पन्द पड़ा रहा।

'सुनते हो--सुनो।' सुलताने उसके कानपर मुँह लगा कर कहा।

'ऐं, क्या हुआ ?'--मानों सतीश की नींद एकाएक टूटी।'

सुलता ने पूछा--'तुमने क्या मेरे गले में हाथ लगाया था ?'

सतीश उठ बैठा--'ऐं, पागल की तरह तुम क्या बक रही हो ?' उसने पूछा--'आज फिर वही स्वप्न देखा है ?'

'नहीं,--हाँ,--क्या मालूम'-सुलता ने स्पष्ट स्वर में कहा--'मुझे ऐसा लगा कि तुम्हारा हाथ मेरे गले पर-।'

सतीश बिना हँसे न रह सका, आन्तरिक हँसी नहीं : 'आज शायद सोते समय दवा लेना भूल गयी थी ?'

'हाँ, तो?'

'ठहरो !' सतीश ने उठ कर बिजली जलायी। ग्लास में दवा डाल कर लाया, कहा--'लो।'

सुलता ने दवा पी ली।

'अच्छा, अब सोयें'।

रोशनी बुझ गयी।

'आओ और भी नजदीक आओ' यहाँ--यहां--यहां- घड़ी में शायद दो बजे।

उस वक्त अच्छी तरह सवेरा नहीं हुआ था। रास्तेकी बिजली की बत्तियाँ बुझ रही थीं। अस्पष्ट अन्धकार में सतीश कमरे से निकला। सीढ़ी से जब वह नीचे उतर रहा था, तब वह अपनी समस्त बोध-शक्ति खो चुका था; शून्य दृष्टि और लड़खड़ाते पैर। वह स्वयं नहीं जानता था कि नीचे क्यों उतर रहा हूँ।

सुलता की ठंढी निर्बल देह से रहा-सहा उत्ताप भी तब जाता रहा था।

पूर्व दिशा में शायद सूर्य की लाली नजर आयी।

--o--

ગપ્દો

जब सिर्फ तीन दिन के बुखार में ही बिहारी की दूसरी पत्नी माला भी चल बसी, तब वह पचास-इक्यावन का थ.।

अपने छोटे-छोटे बच्चों को उसने गोद में उठा लिया। लेकिन वह हैरान था कि अब इनकी देख-भाल कैसे होगी, कौन करेगा ?

बड़ा लड़का पन्द्रह साल का था। उसके लिये कोई फिक्र नहीं। अपनी देख-भाल करने लायक वह खुद है। उसके बाद लड़की है, नौ-दस साल की। उसकी भी इतनी चिन्ता नहीं है।

लेकिन और जो छोटे-छोटे बच्चे हैं--उनका पालन-पोषण कैसे होगा ! सबसे छोटे ने तो अभी घुटनों के बल चलना ही सीखा है।

शायद इसी प्रकार भगवान किसी का सत्यानाश करते हैं।

अगर सबसे बड़ी सन्तान लड़की होती, तो फिर इतनी मुसीबतें नजर न आतीं। पन्द्रह साल की लड़की गृहस्थी का सारा बोझ आसानी से अपने कन्धों पर उठा लेती।

पर इसी उम्र का एक लड़का बिलकुल बेकार है। घर-गृहस्थी का बोझ संभालने की न तो उसमें शक्ति ही है और न समय ही।

एक मात्र आसरा है, वृद्धा बुआ का। काफी लम्बे अरसे से बीमार हैं। अब चलीं-तब चलीं--यह उनका हाल है। मौत इन्हें लेजा कर अगर माला को बख्श देती, तो कैसा अच्छा होता।

एक लम्बी सांस छोड़ कर बिहारी उन्हीं बुआ के कमरे की ओर बढ़ा।

पिछले दो चार दिन वह जरा चली-फिरी भी थीं। लेकिन माला की मृत्यु के बाद से तो उन्होंने ऐसी खाट पकड़ी थी कि उठन का नाम ही नहीं।

उनके बिछौने पर बैठ कर बिहारी ने शास्त्र की गूढ़ कथाएँ सुनायीं—यह जीवन क्षण-भंगुर है, यह संसार असार है, यहाँ चन्द रोज के लिये आदमी आता है और अपना काम खत्म होते ही चला जाता है इसी प्रकार और भी अनेक गूढ़ तत्वों का विश्लेषण उसने किया।

इन शास्त्रीय और दार्शनिक बातोंने बुआ की अश्रुधारा तो जरूर कुछ कम कर दी, लेकिन उठने-बैठने लायक नहीं बना सकीं।

शास्त्र की ये पेटेन्ट बातें मन को तसल्ली दे सकती हैं, लेकिन शरीर में शक्ति-संचार नहीं कर सकतीं।

बिहारी समझ गया, इस मुसीबत में बुआ से सिर्फ कुछ गैलन आंसुओं के अलावा और कुछ की मिलने की आशा नहीं है। घर-गृहस्थी की इस नाव को चलाने की शक्ति उनमें कतई नहीं है।

पहली पत्नी से दो लड़कियाँ हैं। लेकिन वे खुद बाल-बच्चे वाली हैं। दोनों का ही सम्पन्न घराने में ब्याह हुआ है। उनके यहाँ सब-कुछ है। ज्यादा से ज्यादा वे पन्द्रह-बीस दिन के लिये आ सकती हैं। इससे ज्यादा ठहरना सम्भव नहीं।

पत्नी-शोक के बजाय ये सब चिन्ताएँ ही बिहारी के मन में प्रबल हो उठीं। रसोई कौन बनायेगा? बच्चों को नहलाना-धुलाना कौन करेगा?

बिहारी की गृहस्थी भी छोटी नहीं है और काम भी कम नहीं। माला दिन-रात कुछ-न-कुछ काम करती ही रहती थी और बिहारी कहता था—'तुम्हारा काम कभी खत्म भी होगा या नहीं?' इस बात पर ही पति-पत्नी में कई बार झगड़ा भी हुआ था।

आज बिहारी ने समझा, जिसे हर रोज ही इतना बड़ा बोझ उठाना

पड़ता है, जिसे शनि या रविवार की कोई छुट्टी नहीं—उसके लिये हर वक्त अपने दिमाग को ठीक रखना वाकई बहुत मुश्किल है।

दूर के रिश्ते में बिहारी की एक विधवा बहिन है। दूर का रिश्ता है तो क्या हुआ, आना-जाना और मेल-मिलाप की वजह से सम्बन्ध काफी घनिष्ठ हो गया है। वह विधवा है, कोई सन्तान नहीं है। जेठ देवर के यहाँ सुबह सुर्योदय से लेकर रात तक परिश्रम के विनिमय में दोनों वक्त जली-कटी बातें तथा डांट-डपट और एक वक्त खाने के लिये दो रोटियाँ मिल जाती हैं।

उन कष्टों से घबड़ा कर ही कुछ दिनों के लिये वह एक बार माला के जीवित-काल में ही यहाँ आयी थी। इच्छा थी, विधवा जीवन के बाकी दिन भाई के आश्रय में ही काट देगी। लेकिन मुर्खा माला की वजह से उसका यहाँ ज्यादा दिनों तक रहना भी न हो सका।

उस विस्मृतप्राय इतिहास की याद कर बिहारी चुप रह गया।

चोरी करने के अपराध में जब लच्छो यहाँ से निकल गयी थी, तब बिहारी चुप-चाप खड़ा सब तमाशा देख रहा था। लच्छो की रक्षा नहीं कर सका। सांत्वना के दो शब्द भी नहीं कह सका। कलंक चाहे जितना बड़ा हो, बिहारी तो कम से कम अपराध को इतना बड़ा नहीं मान सकता।

देवर के बच्चो को पतंग खरीदवाने के लिये अगर लच्छो ने सेर-दो सेर गेहूँ चुरा कर बेच ही दिये, तो वह ऐसा कौन-सा बड़ा अपराध हो गया कि मुहल्ले भर को इकट्ठा कर उनके सामने फजीहत की जाय।

अगर बिहारी चाहता तो उसे बचा सकता था।

लेकिन उसे न जाने यह कैसा लगा कि, जो विधवा पति-गृह में निर्यातिता है, वही मातृ-गृह में आकर भी देवर के बच्चों की ममता को नहीं भुला सकी, देवर-जेठ की लांछनाओं के बावजूद भी उसके अवलम्बहीन जीवन की मूल सांकल उस दुःखपूर्ण पति-गृह में ही गाड़ी हुई है, इसमें कोई शक नहीं। इसलिये उसका वहीं लौट जाना उचित है।

उस दिन से आज तक जिस बहिन की खबर लेना भी आवश्यक नहीं

समझा था, आज उसी के आगे जाकर वह कैसे खड़ा हो सकता है—यह ख्याल आते ही वह सोच में पड़ गया।

लेकिन बिहारी की मुश्किल बहुत ही जल्दी आसान हो गयी।

एक दिन सुबह रोने की आवाज से नींद खुली तो क्या देखता है कि उसके ही आंगन में बैठी हुई लच्छो अति करुण भाव से मृत भौजाई का शोक मना रही है।

बिहारी को तो जैसे आकाश का चाँद मिल गया। धोती से अपने आँसू पोंछते हुए बोला—'लच्छो आ गयीं ?'

रोना बन्द कर लच्छो बोली—'बिना आये कैसे रह सकती थी भैया ? मैं तो इतने पास रहती हूँ, उस वक्त खबर भेज कर मुझे बुला क्यों नहीं लिया ?'

बगलें झाँकते हुए बिहारी ने जवाब दिया—'उस समय बुलाने का वक्त ही नहीं मिला, बहिन। अब तुम्हें बुलाने की ही सोच रहा था। बहुत अच्छा हुआ कि तुम खुद ही आ गयीं। यह देख ही रही हो कि घर की क्या हालत है। और वह देखो बच्चों की सूरत। बुआ उठ-बैठ नहीं सकतीं। अब इन सब की देख-भाल का भार ले लो और मुझे इस आफत से छुटकारा दो। अब मुझसे यह सब नहीं होता।'

अन्तिम वाक्य कहते हुए उसका गला भर आया।

रोने की आवाज सुन कर इस बीच लड़के-लड़कियाँ भी उनके पास आकर खड़े हो गये थे। लच्छो ने दोनों हाथ फैला कर उन्हें अपनी छाती से लगा लिया।

बिहारी ने एक बार देखा और फिर जल्दी से बाहर चला गया। पत्नी-वियोग के इतने दिनों बाद उसकी आँखों से आँसू निकल ही पड़े। अब अपने को रोकना जैसे उसके लिये असम्भव हो गया।

इसके बाद बुआ उठीं। पास-पड़ोस की औरतें आयीं। दो-चार नंगे शिशु भी आ गये।

सबने यही कहा—'अच्छा किया जो तुम आ गयीं। तुम ही नहीं आओगी तो फिर और कौन आयेगा? बुआ को देखो। अब उनमें क्या शक्ति है। जब तक नयी बहू न आ जाय तबतक सब देख-भाल करो और बच्चों को प्यार से रखो।'

बिहारी जब बाहर से लौटा तो उसने देखा कि आंगन साफ-सुथरा है, बरामदा चमक रहा है। बहुत दिनों बाद मकान की श्री फिर लौटी आयी है। पत्नी-वियोग की वेदना भूलकर बिहारी के होठों पर सन्तोषका आभास मिला।

बारह वर्ष की उम्र में लच्छो का व्याह हुआ था। पन्द्रह साल की उम्र में वह विधवा हो गयी। कोई बच्चा नहीं हुआ। पति को जानने-पहचानने का सुयोग ही नहीं मिला। घर-गृहस्थी बनाने की आशा मनमें उठते न उठते ही मिट गयी।

पति की मृत्यु के बाद उसकी दशा नौकरानियों जैसी हो गयी। घर के सब कामों का भार उस पर लाद दिया गया। जी-तोड़ परिश्रम और दूसरों का हुक्म तामील करना ही उसकी दिनचर्या थी।

लेन-देन, सजने-सजाने का काम उसकी जेठानी और देवरानियों का था। उन्हीं का यह घर था, उन्हीं की गृहस्थी थी। वह तो सिर्फ एक वक्त दो रोटियों के विनिमय में खटती थी।

इस बार बिहारी की गृहस्थी में आकर उसे गृहिणीत्व का स्वाद पहली बार मिला।

वृद्धा बुआ बिछौने पर से उठ नहीं पाती थीं। बिहारी का बाहर घूमने का ही काम था। सुबह उठने के साथ-साथ घर में झाड़ू-बुहारी देने से लेकर रात को सोने से पहले बिहारी के छोटे लड़के को दूध पिलाने तक का सब काम अकेले उसके जिम्मे था।

उस पर हुक्म चलाने वाला कोई नहीं था। जिस काम को करने की उसकी इच्छा नहीं होगी, वह नहीं होगा। ऐसी ही एक गृहस्थी बनाने की इच्छा शायद उसके अवचेतन मन में थी। उसकी खुशी का अब कोई ठिकाना नहीं रहा।

प्रत्येक कमरे को उसने फिर नये ढंग से अपनी इच्छा-नुसार सजाया। यहाँ की खाट वहाँ चली गयी। तस्वीरों को झाड़-पोंछ कर उसने नये तरीके से लगाय ।

बिहारी के सोने के कमरे में दो पलंग थे। माला की मृत्यु के बाद अब दूसरे पलंग की कोई जरूरत नहीं रह गयी थी। छोटे बच्चे दूसरे कमरेमें उसके पास ही सोते थे। एक पलंग ले जाकर उसने बुआ के कमरे में डाल दिया। पलंग देख कर बुआ बहुत खुश हो गयीं। अब तक वे एक टूटी-सी खाट पर ही पड़ी रहती थीं। खुश हो कर उन्होंने लच्छो के सिर पर हाथ फेरा और खूब आशिर्वाद दिये।

यह ठीक है कि बिहारी को अब दो पलंग की जरूरत नहीं थी। फिर भी उसके कमरे से इतनी जल्दी पलंग हटा देना उसे अच्छा नहीं लगा। बहुत दिनों से उसके कमरे में दो पलंग बिछे हुए थे। दोपहर को अब वह अपने पलंग पर लेटा तो उसे बहुत सूना-सूना -सा लगा।

पूछा—'लच्छो, वह दूसरा पलंग कहाँ गया ?'

लच्छो ने जवाब दिया—'बुआ के कमरे में। टूटी खाट पर सोने की वजह उन्हें बहुत तकलीफ होती थी। बूढ़ी हैं न।'

बिहारी को अब और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

इस बार भिखारी की तरह लच्छो नहीं आयी है। आज बिहारी की गृहस्थी में उसका नितान्त प्रयोजन है। बिहारी चुप हो गया, लेकिन दोपहर को उसे नींद नहीं आयी।

उसे न जाने क्यों ऐसा लगा कि, सिर्फ बुआ की खातिर ही वह पलंग यहाँ से नहीं हटाया गया है। इसका और भी कुछ कारण है। माला

द्वारा लच्छो के प्रति किये गये व्यवहार का भी प्रतिशोध जैसे इसमें प्रच्छन्न है। माला की स्मृति अनन्तकाल तक बनाये रखेगा, ऐसा कोई प्रण बिहारी ने अवश्य नहीं किया था। लेकिन फिर भी उसके हाथ के समस्त स्पर्शों को इतनी जल्दी पोंछ देने का प्रयास भी तो उसे अच्छा नहीं लगा।

लेकिन बिहारी के मनोभावों का पता लच्छो को लगा या नहीं, यह मालूम नहीं हुआ।

उसने पहले की तरह एक छत्र मालिकानापन कायम रखा। यह मालिकानापन शान्त या कम नहीं हो सकता। बरसात के पानी से भरी हुई नदी की तरह उसमें बाढ़ आ सकती है पर उसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। कमरों को साफ-सुथरा रखने में और बच्चों की देख-भाल में उसका परिचय सुपष्ट है।

इतना ही नहीं, बल्कि कई महीनों में बिहारी भी पहले से ज्यादा स्वस्थ नजर आता है। इस बात को लेकर ही उसको अपनी मित्र-मंडली का व्यंग भी सहन करना पड़ता है।

बिहारी हँसता है।

लच्छो जैसा अच्छा खाना बनाती है, वैसा स्वादिष्ट माला नहीं बना सकती थी। और बिहारी को खाना खिलाना भी उसके लिये बहुत ही साधारण-सी घरेलू बात थी। उसमें आन्तरिकता भले ही हो, लेकिन ऐसा यत्न नहीं था। और अब तो मानो लच्छो के यहाँ उसका प्रतिदिन निमन्त्रण है।

लेकिन इतना सब कुछ करने पर भी लच्छो के मन का डर नहीं जाता।

कौन जाने यह मालिकानापन कितने दिनों है ?

शायद एक दिन एकाएक सुनेगी कि बिहारी की शादी का दिन निश्चित हो गया है। एक तो बुढ़ापे में बिहारी की शादी, दूसरे आज-कल के जमाने की लड़की, कोई बहुत छोटी लड़की तो आयेगी ही नहीं। शादी के बाद इस गृहस्थी का सारा भार संभालते उसे कितनी देर लगेगी।

तब ?

फिर जैसे का तैसा। हमेशा डांट-फटकार सुनने पर भी ये बच्चे उसे ही मा कह कर पुकारेंगे। उसीके पीछे-पीछे फिरेंगे। सबह से रात तक लच्छो को काम करना होगा, फरमाइश के मुताबिक रसोई बनानी होगी। लेकिन सामने बैठ कर किसी को थाली नहीं परोस सकेगी, खिला नहीं सकेगी। वही दशा होगी जैसी माला के जमाने में थी।

इतने सुख में भी लच्छो को सुख और शान्ति नहीं है। उसे केवल यही अंदेशा रहता है कि उसकी किस्मत में इतना सुखी रहना बदा नहीं है।

यह भय धीरे-धीरे एक मानसिक रोग जैसा हो गया।

बाहर की बैठक में बिहारी और उसके मित्रों के परिहास की आवाज सुनते ही वह सब- काम-काज छोड़ आड़ में छिप कर उन लोगों की बातें सुनती—यह जाननेके लिये कि क्या बातें हो रही हैं ?

किसी अपरिचित व्यक्ति को आते देख कर उसका दिल जोर से धड़कने लगता। कौन किस मतलब से आता है, क्या मालूम ?

बिहारी के मन में धीरे-धीरे क्या इच्छाएँ उठ रही हैं, यह भी कौन जानता है ?

आखिर एक दिन लच्छो ने बहुत चतुराई से खुद बात छेड़ दी।

उस दिन लच्छो ने बड़े मन से एक नयी सब्जी बनायी थी। वह सब्जी बिहारी को बहुत पसंद आयी। खुश हो कर बोला—'लच्छो, तू बड़ा अच्छा खाना बनाती है। सब दोस्त कहते हैं कि तेरा बनाया हुआ खाना खा कर मेरी सेहत अच्छी हो गयी है।'

'अच्छा, रहने भी दो!'—कह कर लज्जा से लच्छो ने फौरन ही दूसरी तरफ मुँह फेर लिया।

उसको लजाते देख बिहारी हँस पड़ा। बोला: 'सच तो है। लोगों की बात जाने दो मुझे खुद भी ऐसा लगता है।'

'--खाक लगता है ।' यह कह कर और थोड़ी-सी सब्जी रसोई से ला कर बिहारी की थाली में रख दी । कुछ देर बाद धीरे-धीरे बोली--'मेरे ममिया ससुर की एक लड़की है, काफी बड़ी है, सुन्दर भी है । हँसते क्यों हो विश्वास नहीं होता !'

हँसी रोक कर बिहारी ने कहा--'विश्वास क्यों नहीं होगा । बहुत से ममिया ससुरों की बड़ी लड़कियाँ होती है और जरूर होंगी । हाँ, तो फिर ?'

'कहना यही है कि कहीं तुम इन्कार मत कर देना । मैं शादी की बात-चीत चलाती हूँ । अगर तुम देखना चाहो तो-'

'कोई जरूरत नहीं । लेकिन लच्छो, तेरा दिमाग तो खराब नहीं हुआ है ? मुझे क्या जरूरत पड़ी जो इस उम्र में शादी करूँगा ?'

'इस उम्र में क्या कोई शादी नहीं करता ?'

'जो करते है वे करें । मेरी किस्मत में अगर यही लिखा होता तो एक के बाद एक करके दोनों पत्नियाँ ही क्यों मरतीं ?'

'तो, इसी वजह से--'

सामने रक्खी हुई थाली को और भी निकट खींच कर बिहारी बोला—'नहीं, नहीं लच्छो । यह सब पागलपन मत करना । अब और जितने दिन जिन्दा हूँ, तब तक ऐसा ही अच्छा खाना बनाकर खिलाये जा और बच्चों की देख-भाल करती रह । बस !'

बिहारी की बातें सुनकर लच्छो खुश हुई, लेकिन सम्पूर्णतः निर्भय नहीं हुई ।

पुरुषों का मन बदलते कितनी देर लगती है ! उन्हें जो कुछ भी प्रेम होता है वह गृहस्थी से, अपने बच्चों से । वे क्या चाहते हैं, यह वे खुद नहीं जानते ।

पुरुषों को वह वयस्क शिशु के अलावा और कुछ नहीं समझती ।

शिशु की तरह उनके विचारों में सामंजस्य नहीं होता, बुद्धि में स्थिरता भी नहीं।

देखते-देखते बिहारी पर चारों ओर से आक्रमण शुरू हो गया।

मित्र-मण्डली तो पहले से थी ही। उस दिन माथुर साहब की बीवी भी आकर बहुत अनुरोध कर गयीं : 'मर्द होकर शादी नहीं करोगे, ऐसा क्या कभी हो सकता है लालाजी ? क्यों लच्छो ठीक है न ?'

शान्त स्वर में लच्छो ने कहा--'भाभी, तुम लोग ही कहो। मैं तो कहते-कहते थक गयी '

बिहारी हँस पड़ा। बोला--'तुम कहते-कहते थक गयीं। शायद इसीलिये ही अब भाभी को बुला लायीं।'

इस प्रसंग के उठने के साथ-साथ लच्छो का मुँह सफेद पड़ गया था। उस ओर बिना ध्यान दिये ही माथुर साहब ने कहा—'मुझे किसी ने नहीं बुलाया है भाई, मैं तो खुद ही आयी हूँ। और चार आदमियों से तुम पूछ लो। कि मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं।'

हाथ जोड़कर बिहारी बोला--'भाभी, सब लोगों से पूछने की क्या जरूरत पड़ी। पर आप ही जरा ख्याल कीजिये कि मेरी उम्र कितनी है ?'

'और सुनो। कितनी है ?'

'पचास पार कर चुका हूँ।'

तालू में जीभ लगाकर माथुर साहब की बीवी ने एक अस्फुट आवाज की और लच्छो की ओर देख कर बोलीं--'सुनती हो ? पचास पार कर कर चुका है। मर्द के लिये पचास साल की उम्र क्या है ?'

माथुर साहब की बीवी का शायद कोई स्वार्थ था। पर उनकी दाल नहीं गली। बुआ के अश्रु भी व्यर्थ हुए। यहाँ तक कि लड़कियों के पिता निराश ही होकर लौट गये। हार कर मित्र-मण्डली ने भी रोज-रोज कहना छोड़ दिया।

इस तरह बिहारी सब तरफ के हमलों पर विजयी हो गया। वे भी

हार मानकर पीछे हट गये। पर इसके साथ-साथ वे लोग बिहारी के मन को कितनी हानि पहुँचा गये, उस वक्त इसका कुछ पता नहीं चला। लेकिन कुछ दिनों बाद मालूम हुआ।

बिहारी उस वक्त बीमार था।

साधारण ज्वर, कोई खास बात नहीं। लेकिन साढ़े निन्यानवे डिग्री से ज्यादा बुखार होते ही बिहारी को होश नहीं रहता। गाना-रोना, हँसना, चीख और चिल्लाहट से वह घर भर के लोगों को परेशान कर देता था।

लच्छो अकेली थी, क्या करे? फिर भी, घर के काम-काज के बावजूद वह नियमानुसार दवा पिला जाती। साबूदाना का कटोरा मुँह से लगा देती, फल काट कर खिला देती। अगर कभी वक्त मिलता तो सिरहाने बैठकर पंखा भी झल देती।

असल में बच्चे बहुत शैतान थे। स्वस्थ अवस्था में तो भी बाप के पास आकर बैठते थे, लेकिन जब से बिहारी बीमार पड़ा तब से वहाँ कोई झांकने को भी न जाता था। इस बात पर लच्छो उन्हें डांटती-फटकारती भी थी हालांकि उससे यह छिपा भी न था कि रोगी के पास शिशु का मन नहीं लगता।

ऐसे ही समय कुछ तबियत सुधरने पर एक लड़के ने लच्छो को बुलाकर कहा—'तुम कह रही थीं न लच्छो कि तुम्हारे ममिया ससुर की एक लड़की है। न हो तो वहीं बातचीत करो। वैसे तो मेरी कतई इच्छा न थी, लेकिन इस बीमारी के वक्त औरत न होने से.........'

लच्छो के चेहरे का सारा खून जैसे क्षण भर में ही कहीं उड़ गया।

बिहारी कहता गया—'यह मैं ही जानता हूँ कि रात कैसे कटती है। प्यासा मरने पर भी कोई एक बूँद पानी देनेवाला नहीं होता। लड़के-ऐसे नालायक हैं कि कोई भी एक बार आकर झांकता तक नहीं।'

'मैं तुमसे सच कहता हूँ, न तो अब मेरी शादी की उम्र ही है और न इच्छा ही। लेकिन बावजूद इसके, यूं प्यासा और बिना सेवा-सुश्रुषा के तो नहीं मर सकता। रात को एक दम अकेला पड़ा रहता हूँ, यदि मर भी गया तो सुबह से पहले किसी को खबर भी न होगी।'

लच्छो का सारा शरीर थर-थर कॉप रहा था। अपने को संभालने के लिये दरवाजे के एक किवाड़ को कस कर पकड़े हुए वह चुपचाप खड़ी रही।

बिहारी अपने आप ही कहता गया--'अब मुझे भी ख्याल आता है कि तुम सब की राय मान कर मैंने अच्छा नहीं किया खैर, जो होना था वह तो हो चुका। अब तुम्हारी जो इच्छा हो करो, मैं कोई बाधा नहीं दूंगा।'

लच्छो जबर्दस्ती हँसी और बोली--'ये सब तो बाद की बातें है भैया। अभी फौरन ही तो तुम्हारी शादी नहीं हो सकती। और बहू आते ही चट से सेवा करने थोड़े ही बैठ जायगी ?'

अपनी व्यग्रता और अधीरता से खुद ही लज्जित हो कर बिहारी बोला--'हां, हां ! मैं भी बाद की ही बात कर रहा हूँ।'

लच्छो चुपचाप रसोई मे लौट आयी।

उसे अब सब्जी बनाने का कोई उत्साह न रहा।

पर इधर कई महीनो में स्वाधीन और स्वतन्त्र मालिकानापन के इस आनन्द का स्वाद उसे मिला है ? उसे किस तरह बचा कर रखा जा सकता है ?

अब सरोवर के जल में उतर कर क्या वह फिर उस पुरातन और सड़े हुए नरक-कुंड में लौट जाय ?

लच्छो का मुंह गंभीर और कठोर हो गया।

बिहारी ने शादी करने का पक्का इरादा कर लिया है। वह उसे अच्छी

तरह जानती है। इसका मतलब है, सिर्फ एकदम अच्छे होने की देर है। फिर, जो सबसे निकट का दिन है, उस दिन ही फेरे पड़ जायेंगे।

नव-बधू आयेगी। शायद वह भी लच्छो के साथ माला की भांति व्यवहार करेगी। और क्या मालूम शुरू-शुरू में न भी करे। पर इस अनुग्रह या निग्रह का क्या मतलब है? दोनों ही क्षेत्रों में उसकी अवस्था परिचारिका या आश्रिता रिश्तेदार से ज्यादा तो नहीं होगी।

हाय भगवान् यदि लच्छो को बिहारी का रिश्तेदार बना कर भेजा था, तो और भी निकटतर सम्बन्धी बना कर क्यों नहीं भेजा। तब इस बीमारी में बिहारी की और भी ज्यादा सेवा-श्रुसुषा करना सम्भव होता। रात को उसकी निर्जन रोग शय्या पर एकाकी उपस्थित रहना भी असम्भव न होता!

लेकिन यह क्या!

बिहारी की बड़ी बुआ की जिठानी की लड़की लच्छो है। सगी जिठानी की भी नहीं। बल्कि पति के चचेरे भाई की पत्नी। पति की मृत्यु के बाद वह जिठानी बिहारी की बड़ी बुआ के आश्रय में ही चली आयीं और कुछ दिनों बाद उन्हीं के हाथों आठ वर्ष की लच्छो को सौंप कर स्वर्गवासिनी हुई। तब से लच्छो का पालन-पोषण उसकी चाची ने ही किया। इस तरह बिहारी से रिश्तेदारी है। वह चाची आज नहीं हैं। सिर्फ लच्छो और बिहारी हैं और है उस टूटे हुए तार को नया करके जोड़ी हुई रिश्तेदारी। इस पर ही निर्भर करके बिहारी की रोग शैय्या पर रात काटी जा सकती है या नहीं--यह संशय का विषय है।

सारे दिन लच्छो न जाने क्या-क्या सोचती रही, जिसका न कोई सिर न पैर।

बच्चों ने भर पेट खाया है या नहीं, यह देखने का भी उसे वक्त नहीं मिला। खाने के वक्त बुआ अचार के लिये चिल्लाते-चिल्लाते थक

गयीं। लेकिन उन्हें अचार नहीं मिला। बिहारी को दो बार में ही तीन खुराक दवा पिला दी। और उसने खुद रोटी भी नहीं खाई, ढक कर चूल्हे में रख दीं।

फिर शाम के वक्त बहुत दिनों बाद उसने अपनी चोटी की। सब की नजर बचा कर चुपचाप साबुन से मुँह भी धोया। रात को बच्चों को खिला-पिला और सुला कर बिहारी के कमरे में आयी।

उसके पैरों की आहट सुनकर आँखें मलते हुए बिहारी ने कहा—'लच्छो ?'

लच्छो जमीन पर अपने लिये शतरञ्जी बिछा रही थी। संक्षेप में बोली—'हूँ।'

'यहाँ ही सोओगी क्या ?'

'हूँ।'

एक आराम की सांस छोड़कर बिहारी ने कहा :

'मैं खुद तुमसे यह नहीं कह पा रहा था लच्छो। लेकिन बुखार की हालत में अकेले सोते हुए मुझे डर लगता है। सपनों में खाली तुम्हारी भाभी ही दिखाई देती है। उसे देख कर डर लगता है। अच्छा किया कि तुम आ गयीं।'

लच्छो ने उसके सिर का तकिया ठीक कर दिया और ललाट पर हाथ फेरते हुए बोली—'इस वक्त तो बुखार नहीं है। सो जाओ।'

कोमल हाथों के स्पर्श से उसकी आँखें बन्द हो गयीं।

लच्छो का ठंडा हाथ अपनी आँखों पर रख कर उसने पूछा—'क्या बजा है, लच्छो ?'

'मालूम नहीं। शायद ग्यारह बज चुके हैं।'

बिहारी ने और कुछ नहीं कहा। ललाट, मुँह और छाती पर परम आनन्द से उस शीतल हाथ के स्पर्श का सिर्फ उपभोग करने लगा।

पत्थर की तरह शख्त बनकर लच्छो वहाँ बैठी रही।

सुबह बच्चों ने उठकर देखा कि बरामदे में एक डण्डे का सहारा लगाये लच्छो नीचा मुँह किये बैठी है। मरे हुए आदमी की तरह उसका मुँह एकदम सफेद है, आँखों की पलकें नहीं गिरतीं और दोनों कोरों में आँसू की दो-चार बूंद जमी हुई हैं।

सबसे छोटे बच्चे ने कंधा पकड़ कर हिलाते हुए कहा--'बुआ, मुझे दूध नहीं दोगी ?'

यह पुकार सुनकर लच्छो एक दम चौंक उठी।

फिर उसे छाती से चिपकाती हुई बोली--'चलो।'

—०—

ફાંસેર

काफी खोज और तलाश के बाद अब मैंने एक नया पार्क ढूंढ़ लिया है। छोटा तो है पर क्या हुआ, यहाँ बहुत शान्ति है। चारों ओर लम्बे-लम्बे पेड़ों की घनी छाया है। घास भी गलीचे जैसी मुलायम और नरम है। यहाँ से कुछ दूर पर ही बड़ी सड़क है। इस लिये ट्राम या बस का शोर-गुल सुनायी नहीं पड़ता। और भी मजेदार बात यह है कि शाम होते ही झींगुर बोलने लगते हैं। जरा जोर से हवा चलती है तो पेड़ के पत्तों की सर-सर आवाज होती है।

पार्क अच्छा है। अच्छा लगने का और भी एक कारण यह है कि घासके चारों ओर एक बार चक्कर लगाने में कुल बारह मिनट लगते हैं। अतः एक चक्कर लगा कर बहुत उत्साह से दूसरी बार के लिये तैयार हो जाता हूँ। थकान नहीं आती। दीर्घ पथ या बहुत बड़े मैदान का मोह आज मुझे नहीं है। दुःसाहस करनेकी उम्र पार कर चुका हूँ।

दक्षिण के नीबू के पेड़ तले मेरे विश्राम की जगह है। चक्कर लगाकर किसी दिन आश्चर्य में पड़ जाता हूँ। स्फीतकाय क्षिप्त अश्व की यह कैसी दौड़ ! जैसे उछल कर आकाश छूना चाहता हो। पैरों की पेशियां उभर आयी हैं। पत्तों की फाँक से सूर्यास्त की लाल आभा उस पर पड़ रही है। जान गया ब्रोंज की मूर्ति है। सोचता हूँ सजीवका व्यंग करने के लिये ही क्या मनुष्य की यह धातव रचना है, धूर्त्त कीमियागिरी।

'महाराणा प्रताप का घोड़ा इससे भी बड़ा था ?'

चौंक उठा। कोयल जैसा मीठा स्वर था न !

कहा--'इससे भी ज्यादा बड़ा था और बलवान भी।' घूम कर मैंने बेंच की पीठ पर अपना हाथ रखा। घुटनों तक लम्बा सफेद फ्राक पहने एक लड़की खड़ी थी। उसके मोजे और जूते भी सफेद थे। मेरी ओर देखती हुई बोली--'राणा प्रताप के घोड़े का नाम जानते हो ?'

कहा--'चेतक।'

'नीले रंग का था ?'

'नहीं--सफेद।'

सिर घुमा कर कंक्रीट के चौक पर बनी हुई उस दौड़ते हुए स्तब्ध घोड़े की मूर्ति को वह फिर देखने लगी। धूप की आखिरी लाल किरणें धीरे-धीरे गायब हो रही थीं। उसके सिर के काले-काले घुंघराले बाल अभी तक वेणी के बन्धन में नहीं पड़े थे। तेज हवा में उड़ कर वे उसके माथे को ढक रहे थे। एकाएक उसने प्रश्न किया--'शिवाजी के घोड़े का क्या नाम था ?'

हंसते हुए कहा--'धूंदूल।' मुझे सही-सही नाम मालूम न था।'

'तुम सब जानते हो।' वह कुछ आश्चर्य में पड़ गयी।

'इसमें क्या शक', कहते हुए बेंच पर मैं एक ओर बैठ गया। हाथ की छड़ी एक तरफ लटका कर शिवाजी की कहानी शुरू कर दी। घने जंगल और नदी नालों को पार करते हुए मराठे वीर सिंहगढ़ विजय करने जा रहे हैं।

'इसके बाद ?' वह तन्मय हो कर कहानी सुन रही थी। मुझे कुछ शरारत सूझी। कहा--'मुनिया, पहले तुम अपना नाम बताओ न ?'

अरे, कहां गयी वह तन्मयता--काली आंखों का विस्मय। समझा, मैंने कहीं गलती कर दी। नाराजगी से होंठ फुल गये हैं और भौंहें टेढ़ी। 'मैं जैसे बहुत छोटी-सी बच्ची हूं न, मैं तुम्हारी मुनिया हूं ?'

हँसते हुए उत्तर दिया—'नहीं जी, तुम क्यों छोटी-सी बच्ची होने लगी।'

अब भी वह खुश नहीं हुई। आकाश मेघाछन्न है। मिट्टी में जूते घिसते हुए वह कुछ दूर आगे बढ़ गयी और घास उखाड़ने लगी। लौट कर जब वह मेरे सामने आकर खड़ी हुई तो उसकी आँखों में शरारत खेल रही थी। बोली—'न तो मैं बहुत बड़ी हूँ और न छोटी-सी बच्ची ही।'

'हाँ ठीक कहती हो—तो फिर तुम्हें क्या कह कर पुकारूँ?'

'मैं कामरेड हूँ', यह कह कर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। मैं स्तब्ध। मन ही मन मैंने इस युद्धोत्तर बीसवीं सदी को प्रणाम किया। सफेद बालों की खोपड़ी में जो बात नहीं आयी, उसी का समाधान एक छोटी लड़की ने जरा-सी देर में कर दिया।

मैंने जरूरत से ज्यादा खुश हो कर कहा—'हम लोग कामरेड हैं, क्यों?' साठ और दस साल के बीच मित्रता का बन्धन स्थापित हुआ। अब वह मेरे पास ही बैठ गयी। मुझे शिवाजी की कहानी का बाकी हिस्सा पूरा करना पड़ा। उस वक्त अंधेरा हो चला था। ब्रोंज का घोड़ा धुंधला पड़ गया था। वह उठ कर खड़ी हो गयी।

'अब मैं घर जाऊँगी।'

'तुम्हारा मकान किधर है?'

पार्क के पश्चिम की ओर एक मकान की तरफ उसने अँगुली से इशारा किया। गेट से बाहर निकलते हुए कामरेड ने अपना छोटा-सा हाथ ऊपर उठा कर कहा—'गुड-नाइट।

'गुड-नाइट' और फिर वह दृष्टि से ओझल हो गयी।

दूसरे दिन सादे फ्राक की जगह काला। ब्राउन क्रीम का जूता। वैसे ही बिखरे हुए बाल। पर यह क्या! मालूम हुआ कि वह मुझसे नाराज है। पार्क में पैर रखा ही था कि आँखें घुमा कर कामरेड ने कहा—'तुम पंकचुअल नहीं हो।'

'काम से लौटने में--'उसका हाथ पकड़ कर ऐसे कहा मानो अपराधी हूँ--'देरी हो गयी।'

वह भला क्यों सुनने लगी। बिलकुल मिलेटरी जैसा मिजाज है: 'घड़ी की सुई की तरह ठीक वक्त पर खाना चाहिये, टहलना चाहिये तथा सब काम नियत समय पर करने चाहिये। यह तुमने नहीं सीखा?'

'अब सीख गया', मुश्किल से अपनी हँसी रोकी, 'कल से वक्त में जरा भी गड़बड़ी नहीं होगी। चलो, वहाँ बैठें।' आज शिवाजी की कहानी नहीं। सोचा था, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की कहानी सुनाऊँगा। लेकिन मेरे सोचने से क्या होता है। बेंच पर उसी वक्त बैठने का प्रस्ताव उसे पसन्द नहीं आया।

'पहले हम लोग घूमेंगे।'

तथास्तु।

'तुम रोज कितने चक्कर लगाते हो?'

'यही दो-तीन बार; और तुम?'

जवाब देने से पहले कामरेड हँसी।

'तुम कुछ नहीं हो; मैं चार चक्कर लगा कर बैठती हूँ।'

एक लम्बी सांस छोड़ी। पके हुए बाल, और टूटे हुए दाँत वाले वृद्ध को देख कर तुम्हें दया नहीं आती। जो मन में आया वही कह दिया।

'यह क्या, तुम चलते-चलते रुक क्यों गये?'

कहा--'चलो।'

दो कदम चल कर कामरेड ने 'ऊँहूँ' किया।

'कुछ नहीं,! तुम्हें चलना तक नहीं आता।'

'वाह ठीक तो चल रहा हूँ।'

'खाक चल रहे हो'--अपनी दोनों भौंहें कुंचित कर उसने मुंह घुमाया। 'पैर मिला कर चलना चाहिये न! देखो मैं कैसे चलती हूँ।'

लैफ्ट, राइट, लैफ्ट ।

लैफ्ट, राइट, लैफ्ट ।

हम दोनों साथ-साथ चलने लगे ।

उस वक्त पेड़ के पत्तों पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं ।

लैफ्ट,राइट, लैफ्ट । सोचता हूँ, बचपन की भी हद नहीं । हँसते हुए बोला–'मुझे सिपाही बना कर ही मानोगी, युद्ध में जाना है ?'

'युद्ध में जाओगे ?' कामरेड की आँखों में चमक आ गयी । इसके बाद न जाने क्या सोच क : अपना सर हिलाया और विज्ञ की तरह बोली––'भारी-भारी बूट पहन कर और कन्धे पर बड़ी-सी बन्दूक लादे नदी नाले, और पहाड़ तथा जंगलों को तुम पार नहीं कर सकोगे, मर जाओगे !'

'क्यों नहीं चल सकूँगा–जरूर चलूंगा ।'

उत्साहपूर्वक सर हिलाया और छड़ीको कस कर पकड़े हुए कहा–– 'ऐसे चला जाऊँगा ।'

ईश्वर ही जानता है कि उपेक्षा से या करुणा से कामरेड ने आकाश की ओर मुँह करके धीरे-धीरे कहा 'तुम भाग तो नहीं सकोगे, दौड़ तो नहीं सकोगे ।'

'और तुम दौड़ सकती हो ।'

'हाँ, यह देखो !' यह कहने के साथ ही वह सामने की तरफ दौड़ गयी । सोचा, अच्छी कामरेड मिली है । सारे पार्क का एक चक्कर लगा कर वह मेरे सामने आ खड़ी हुई ।

'देखो न मैं जरूर युद्ध में जाऊँगी ।'

माथे पर पसीने की बूंदें । द्रुत स्वासों की वजह से गले की नीली नसें फूल गयी हैं । चेहरा लाल-लाल हो रहा है । झंकार की तरह उसकी आवाज कानों में गूंज उठी––'युद्ध में जाऊँगी ।' तुम्हारे लिये युद्ध में जाने का कोई उपाय भी है ? चार पाँच बच्चों की मा बन जाओगी । पति की

रसोई और बच्चों की देख-भाल तथा सास-ननद और जिठानी से झगड़ा करते-करते तुम्हारे जीवन में कितने कुरुक्षेत्र आयेंगे। जीवन के संघर्षों से टक्कर लेते हुए आज मैं साठ साल का हुआ हूँ। कागज,-कलम, लेजर, बड़े बाबू, जुर्माना, दमा, खाँसी, बुखार-संग्राम का अंत कहाँ तक ?

कामरेडने हुंकारा–'चलो, अब खड़े मत रहो।'

दो चक्कर एक साथ लगाने के बाद मैं हांफने लगा। मैं इतना तेज नहीं चल सकता। कहा–'आओ, अब बैठें।'

'ऊं-हूँ, यहाँ नहीं-तालाबके किनारे।'

पार्ककी बगल में एक छोटा-सा तालाब भी है, इतने दिनों से मैंने यह गौर नहीं किया था। पानीपर सुनहरा प्रकाश पड़ रहा था।

कामरेड मुझे जल के पास खींच ले गयी। क्या मालूम अब कौन-सी नयी चीज दिमाग में आयी है। लम्बी हरी, घास में उसके घुटने तक ढक गये थे। मेरे कान से मुँह लगा कर कहा—'चुप रहो, बात मत करना।'

किसी रहस्य की आशा में मैं चुप रहा।

पानी में अँगुलियाँ डुबो कर उसने कुछ संकेत किया और किनारे पर दो मछलियाँ आ गयीं। कुछ देर पानी पर मछलियाँ इधर-उधर तैरती रहीं और फिर अंदर चली गयीं।

इतनी देर से पानी पर झुकी हुई वह मछलियों को ही देख रही थी। मछलियों के चले जाने पर मेरी ओर देख कर हँसी और बोली–'देखा, वे मेरा इशारा जानती हैं, मेरी बोली पहचानती हैं।'

'अच्छा, यह बात है।' जरा जानबूझ कर आश्चर्य से कहा।

'वे मेरी दोस्त हैं।'

'दुनिया में सब तुम्हारे दोस्त ही हैं!'

कामरेड ने मेरी बात का कोई जवाब नहीं दिया। पानी में हाथ डुबो कर वह मछलियों को बुलाने में लगी हुई थी। इस बार भी मछलियाँ

आयीं और मेरी कामरेड उन्हें झुक कर देख रही थी। कभी-कभी उसके सिर-पर से तितलियाँ उड़ जाती हैं। अंधकार बढ़ रहा था। मछलियां फिर भीतर चली गयीं।

हम लोग भी उठ कर चल दिये।

कुछ दुखभरी आवाज में कामरेड ने कहा—'उन्हें भूख लग रही थी।'

'अच्छा!'

'और क्या, नहीं तो बार-बार वे मेरे हाथसे अपना शरीर क्यों घिस रही थीं?'

'कल कुछ बिस्कुट ले आऊँगा।'

आजकल पांच बजते ही मैं बेचैन होने लगता हूँ। घड़ी की सुइयों को बार-बार देखता हूँ। पार्क मुझे बुला रहा है। आफिस की लम्बी-लम्बी दीवारें, कागज-पत्रों तथा फाइलों के ढेर को भेद कर मेरे सामने दो काली काली आँखें चमक उठती हैं। पेड़ों की छाया अब लम्बी हो गयी है। और पत्तों के बीच से धूप चमक रही है।

इस वक्त मेरा 'रूट मार्च' शुरू होता है। आरम्भ हो गया उसका शासन और डांट-फटकार। पैर से पैर मिला कर न चलने पर कामरेड नाराज हो जाती हैं। जरा-सी बच्ची के इशारे पर मैं चलता हूँ, दौड़ता हूँ, और बिस्कुटों का चूरा करके मछलियों को खिलाता हूँ। मुझ पर उसने पूरा कब्जा कर रखा है। मैं बदल गया हूँ। मानो बचपन के बीते हुए वे दिन फिर लौट आये हैं। हम लोग बच्चे हैं और क्या।

मैंने अपनी कामरेड को उपहार में लीची दी। उसे छील कर मुंह में रखते हुए एकाएक कामरेड अन्यमनस्क हो उठी और बोली—'नहीं, मैं नहीं खाती।' हाय, ऐसा अच्छा फल और वह भी उसे पसंद नहीं आया। मुझे बहुत दुःख हुआ।

गम्भीर हो कर कामरेड ने कहा—'आज हम बन्दूक छोड़ेंगे।'

डर गया। बस, काम तमाम हुआ। अब मेरी छाती में गोली लगेगी। पूछा-'बन्दूक कहाँ है।?'

कामरेड धीरे-धीरे मुस्करायी।

'तुम यहीं खड़े रहो'—कह कर वह जरा दूर हट गयी और घुटने के बल बैठी। अपनी दोनों बाहें मिला तर्जनी अँगुली और अँगूठा नचाकर उसने मुझे निशाना बनाया। एक आँख बन्द की और मुंह से धांयकी आवाज करके बंदूक के छूटते ही मेरे माथे पर एक बड़ी लीची आकर लगी।

'तुमने देखा कैसा ठीक निशाना लगाया।'

'वाकई—बहुत ठीक।'

सीना तान और सिर ऊँचा किये हुए जूते की चरमर के साथ हाईलैंडर की तरह सामने आ खड़ी हुई। उसके चेहरे और आँखों में सफलता नाच रही थी। बोली—'अब तुम्हारी बारी है।' चैलेंज दे कर कामरेड दूर जा कर खड़ी हो गयी।

परीक्षा कठिन है। डरते हुए दिल से मैंने उसकी नकल की। निशाना चूक गया। लीची पेड़के नीचे जाकर गिरी। कामरेड ने डांटा—'निशाना नहीं लगा, चूक गया। तुम कुछ नहीं कर सकते।'

अपनी असफलता की ग्लानि से मेरा मुँह सूख गया।

'कोई बात नहीं, फिर कोशिश करो। इस बार ठीक लगेगा।' और दौड़ कर कामरेड अपनी पहली वाली जगह पर जाकर खड़ी हो गयी। मैंने फिर कोशिश की। इस बार उसके हाथ में मेरी गोली लगी, और गोली लगने के साथ-साथ ही वह चट से घास पर लेट गयी यानी घायल हो गयी। हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। मैंने उसे उठाया और उसके कपड़ों की धूल झाड़ दी। ऐसे ही बच्चों जैसे हमारे खेल होते हैं।

लेकिन एक दिन हमारे खेल बन्द हो गये।

वर्षा शुरू हो गयी। शहर की प्रायः सब सड़कों पर पानी भर गया।

चारों ओर कुहा-सा छा गया। घर से बाहर निकलना असंभव हो गया। दो दिन तो अपने आफिस भी नहीं जा सका।

पार्क ? आजकल पार्क जानेकी बात सुनकर लोग कहेंगे कि बुड्ढा सठिया गया है। इसलिये शाम का वक्त भी घर में ही काटना है। बहुत बेचैनी होती है। खिड़की से बार-बार बाहर की तरफ झांकता हूँ। ऐसा लगता है जैसे बहुत दिनों से पार्क नहीं गया हूँ।

एक दिन, दो दिन, चौथे रोज, बारिश बंद हुई, लेकिन मेघ मंडराते ही रहे। मुझसे अब न रहा गया और मैं निकल ही पड़ा।

ओफ ! पार्क की क्या हालत हो गयी थी। पानी में लगातार भींगते रहने की वजह से जैसे पेड़-पौधे को बुखार आ गया हो। चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो रही हैं। गलीचे जैसी नरम मुलायम घास की सूरत बदल गयी है। यहाँ पानी, वहाँ कीचड़। पेड़ के नीचे हमारी बेंच भी सूनी थी। और कुछ दूर पर ही वह काले ब्रोंज का घोड़ा। वह हमेशा एक ही तरह से खड़ा रहता है। पश्चिम के गेट से मैं सड़क पर चला आया।

इधर लाल रंग का लेटरबक्स है। उससे दो कदम आगे चल कर ही सफेद रंग का बड़ा फाटक है। धीरे-धीरे मैं द वाजे तक पहुँचा। अन्दर घूसने की हिम्मत नहीं हुई। क्या मालूम इतने बड़े महलके किस कोने में वह है।

लौट जाऊँ ? यह सोचते-सोचते मैं दो कदम और आगे बढ़ गया। इसी वक्त राक्षस की तरह एक बुलडॉग भूंकता हुआ मेरी ओर लपका। अपने सफेद दाँतों से मेरे टुकड़े-टुकड़े कर देता। भाग्य से हाथ में छड़ी थी। लेकिन छड़ी उठाने के पहले ही वह कुत्ता मंत्रशांत भुजंग की तरह मेरे सामने खड़ा हो कर दुम हिलाने लगा। ओह, यह बात है, मेरी कामरेड पास ही खड़ी थी।

'पार्क में घूमने आये थे ?'

'नहीं, तुमसे मिलने।'

'आओ, भीतर आओ।'

दुविधा और संकोच में पड़ा था। कामरेड को तो पहचानता हूँ, लेकिन मकान से तो कोई परिचय नहीं। चालाक लड़की बोली—'तुमसे कोई कुछ नहीं कहेगा, मकान में मेरे सिवाय और कोई नहीं है।'

और भी घबरा गया।

'कोई नहीं है ?'

'चाचा-चाची घूमने गये हैं।'

'और तुम यहाँ अकेली—'

'तुम कुछ नहीं समझते'—मेरा हाथ पकड़ कर जोर से कहा—'मैं पिताजी के पास थी। चलो, पिताजी से मिलोगे !'

समझा—चाचा-चाची बड़े आदमी हैं और पिता उदार हैं। कहा—चलो।'

बरामदा पार कर हॉल में पहुँचे। चारों ओर शौकीनी और अमीरी का साज-सामान। मकान कलापूर्ण ढंग से सजा हुआ है। कामरेड आगे-आगे चल रही है और मैं उसके पीछे-पीछे।

'पैर मिला कर चलो।'

हँसते हुए बोला—'हाँ ठीक है।'

लैफ्ट-राइट, लैफ्ट। कार्पेट पर उसके जूतों की आवाज हो रही है। बाल उड़ रहे हैं। दुमंजिले की सीढ़ी के पास एक गमले में कुछ फूल रखे थे। उनमें से उसने दो फूल उठा लिये।

'तुम यह पिताजी को देना और मैं भी दूँगी।'

'अच्छा जरूर दूँगा।' हाथ में फूल ले कर मैं मन ही मन हँसा।

अब दुमंजिले के कोने वाले सबसे छोटे कमरे में हम आ गये।

'यह मेरा पढ़ने का कमरा है।'

छोटी मेज, एक बुकशेल्फ और छोटा आइना।

'आओ अब पिताजी से मिलाऊँ।'

'चलो।' मैंने अपने कोटके बटन जल्दी-जल्दी लगा लिये।

मेरा हाथ पकड़ कर वह गोल मेज के सामने ले गयी। चाँदी के फ्रेम में मढ़ी हुई एक बहुत बड़ी ब्रोमाईड की तसवीर थी। मैं चौंक गया।

'ये हैं तुम्हारे पिताजी ?'——

सिर हिलाते हुए कामरेड ने हँस कर कहा——'हाँ, कश्मीर की लड़ाई में आँख में गोली लगी थी।'

——:०:——

देवकी के दांव

कुल्ला करते वक्त आज देवकी का एक दाँत और टूट गया। अब दाहिनी दाढ़ में सिर्फ तीन दाँत और बचे हैं। उसने अपनी आदत के अनुसार इन तीन दाँतों पर एक बार स्नेह से जीभ फिराई। ये तीनों भी हिल रहे हैं और किसी भी वक्त गिर सकते हैं। ये भी खत्म हो जायँ तो छुट्टी मिले। एक-दो दिन से नहीं, बल्कि आज तीन वर्ष से देवकी दांत बनवाने के लिये हरिराम से जिद कर रही है। आज कल नकली दाँत कौन नहीं बनवाता बहुतेरे लोग तो अच्छे-भले दाँतों को उखड़वा कर नये दाँत लगवाते हैं, सिर्फ दाँतों की खूबसूरती के लिये। पर वह तो शौकीनी के लिये दांत नहीं बनवाना चाहती। उसने तो अपनी सारी शौकीनी का बलिदान शादी के बाद से कर दिया है। दाँतों के बिना एक बीड़ा पान खाना भी मुहाल है। इसके आलावा, जहाँ हरिराम के सिर्फ एक-दो ही दाँत टूटे हैं, वहाँ उसके सब दाँत जवाब दे रहे थे। यह क्या अच्छा लगता है ?' जो देखता है, वही हँसता है। हरिराम से दुगुनी बुढ़िया देवकी लगती है, हालाँकि वह अभी पूरे चालीस की भी नहीं हुई है, और हरिराम पचास पार कर चुका है।

दाँत बनवाने के लिये देवकी बराबर जिद करती है। लेकिन हरिराम एक नहीं सुनता। जिसे तकलीफ होती है, वही जानता है। हरिराम को क्या पता ? हँस कर कहता है—'मेरे दाँत क्यों नहीं टूटते, तुम्हें इसका दुःख है न, देवकी ? कुछ दिन तक धीरज धरो, मैं भी तुम्हारी तरह ही हो जाऊँगा।'

देवकी अपनी नाराजगी जाहिर नहीं होने देती, बल्कि और भी शान्ति और करुण भाव से विनती करती है : "लेकिन कितना बुरा लगता है। लोग क्या कहते होंगे ? जरा सोचो तो ?"

इसके जवाब में हरिराम कहता है : "लोगों के कहने-सुनने से क्या बनता-बिगड़ता है ? मुझे तो तुम अब भी सुन्दर लगती हो। दूसरे लोगों के कहने से ही क्या तुम बुढ़िया हो गयी ?" तुम तो मुझसे दस-पंद्रह साल छोटी हो। चौबीसों घंटे पान चबाने के कारण ही तुम्हारे दाँत गिर गये।'

देवकी अब सहन न कर सकती : "पान खा-खा कर ? तुम्हारे यहाँ किसी भी दिन एक-दो से ज्यादा पान खाने को मिले भी हैं ? ऐसी तकदीर होती, तो फिर क्या रोना था। मलेरिया होने के बाद से मेरे दाँत गिरते जा रहे हैं। खैर यह भी तो मालूम हो कि इनमें तुम्हें क्या आपत्ति है ? तुमसे गहने-कपड़े के लिये न कभी कुछ कहा, और न कहूँगी। दाँत बनवाने से तुम्हारे सैकड़ों रुपये खर्च हो जायेंगे क्या ?"

अब हरिराम भी चिढ़ जाता है। गुस्से में कहता है : "चाहे एक पैसा ही क्यों न लगे, लेकिन आये कहाँ से ? हम गरीबों को फिजूलखर्ची शोभा नहीं देती। चल यहाँ से ! बक-बक मत कर !"

हरिराम के हाथ के पास से देवकी फौरन ही हट जाती है। क्या ठीक, एक-दो हाथ जमा ही दे। सिर्फ इधर कुछ वर्षों से हरिराम ने उसे मारा-पीटा नहीं है। लेकिन पहले बहुत कम दिन ऐसे बीते हैं जब पति का डंडा या लात-घूंसा उसके शरीर पर न पड़ा हो। देवकी दूर हट जाती है लेकिन वहाँ से जाती नहीं। कटकटाने लायक तो दाँत रहे नहीं लेकिन क्रोध में इसका कुछ ख्याल नहीं रहता। मुँह फाड़ कर, कुत्सित भाव-भंगी में हाथ नचा-नचा कर कहती है : "मैं तो खाली बक-बक करना ही जानती हूँ ! जिसकी बातें शहद-जैसी मीठी हों ...."

हरिराम तुरन्त बात काट कर कहता है : "चुप, चुप !"

"चुप क्यों रहूँ ? मीठी-मीठी हड़प, कड़वा-कड़वा थू !"

उसके यौवन के एक दिन की असंयम की यह कहानी ही देवकी का सब से भीषण अस्त्र है। वह जानती है कि उस दिन की उस लज्जाजनक स्मृति को हरिराम छिपा कर रखना चाहता है, भूलना चाहता है; इस कारण कि कृपण के नाम से बदनाम होने पर भी समाज में उसकी सच्चरित्रता का सब सम्मान करते हैं। गरीब होते हुए भी सब की श्रद्धा और आदर के बल पर ही वह पंचायत का मुखिया बन सकता है। जरा से असंयम के लिये उसने समाज के अनेक स्त्री-पुरुषों को कठोर दंड दिया है और दंड जितना ज्यादा कठोर हुआ है, समाज की श्रद्धा और भक्ति उतनी ही ज्यादा उसे मिली है। एक देवकी को छोड़ कर, उस घटना का और कोई गवाह नहीं है। रामू धोबी इस गाँव से न जाने कहाँ चला गया। मुहल्ले के और जिन दो-चार व्यक्तियों को यह घटना मालूम थी, उनमें से कोई जिन्दा नहीं है। पर देवकी ही क्या कम है ?

वह कुछ मुलायम हो कर, कहता है : "अरे चुप भी रह ! तेरे दाँत तो टूट गये लेकिन अभी तक उनका जहर नहीं गया।"

"जब तक दाँत नहीं बनवाते, तब तक यह जहर जायगा भी नहीं।"

देवकी के दिमाग में इस बात की उपज कैसे हुई है, यह हरिराम जानता है। जमींदार की श्रीमती साहिबा लखनऊ से दाँत बनवाकर लौटी है। ये नकली दाँत देखने में बहुत अच्छे लगते हैं---मोती जैसे सुन्दर और छोटे-छोटे असली दाँत से भी अच्छे। देवकी ने इन दाँतों की सुन्दरता और उपयोगिता का वर्णन अनेक बार बहुत उत्साह से किया है। लेकिन बड़े आदमियों की नकल कहीं गरीब कर सकते हैं ? फिर हरिराम को इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में सन्देह भी है। लोगों से पूछ-ताछ कर, इस सम्बन्ध में सब बातें जान ली हैं। इन पर चालीस-पचास रुपये खर्च करो और अंत में इनकी कीमत एक फूटी कौड़ी के बराबर भी नही रह जाती। ये ऐसी चीज तो है नहीं कि एक आदमी के व्यवहार के बाद कोई दूसरा इन्हें इस्तेमाल कर सके या जरूरत के वक्त बंधक रखे जा सकें। बनवाने से खर्च तो

इतना हो लेकिन अंत मे कोई एक पैसे में भी खरीदना न चाहे। इससे तो यही अच्छा होगा कि इन रुपयों से गृहस्थी की ही दो-चार चीजें खरीदी जायँ। पर ये सब बातें देवकी की समझ में नहीं आतीं। इनके पीछे वह बेवकूफों की तरह पागल है। अगर चार पैसे बच रहेंगे, तो लड़के के काम आयेंगे। सिर्फ एक लड़का ही तो है। आज-कल के बुरे जमाने में लड़के की जो थोड़ी-सी आमदनी है, उसमें उसका काम कैसे चलेगा? एक छोटे-से स्कूल में वह मास्टर है। तनख्वाह ही उसे क्या मिलती है? सिर्फ चालीस रूपये! इतना तो हरिराम पूजा-पाठ से ही कमा लेता है। रुपया खर्च करके उसे पढ़ाया-लिखाया और मैट्रिक पास कराया और अंत में उसे नौकरी मिली चालीस रुपये की। हरिराम की इच्छा लड़के को पढ़ाने की कतई नहीं थी। स्कूल में पढ़ कर लड़के की ऐसी हालत होगी, यह पहले से ही जानता था। पढ़-लिख कर लड़का घमंडी हो गया है और शिक्षित होने की वजह से अब वह हरिराम की तरह पूजा-पाठ का काम भी नहीं करता। बाप के इस काम को घृणा से देखना क्या उचित है? आज कल के लड़कों में शर्म तो है ही नहीं। नौकरी मिलते ही, वह अपनी बहू को लेकर चला गया। उसे खाने-पीने की तकलीफ थी। गरीब हो कर यह लाटसाहबी मिजाज क्यों? खैर उसे जिसमें सुख मिले, वही करे।

इधर हरिराम के बर्ताव से देवकी के मन मे दाँतों का पुराना शौक अब फिर जोर मारने लगा है। सिर्फ दाँतों का दुःख नहीं, उसे ऐसा लगा, जैसे हरिराम के साथ उसका सारा जीवन ही दुःख में कटा है। कोई कितना भी गरीब क्यों न हो, इच्छा होने पर अपनी पत्नी के लिये एक दो-गहनें बनवा ही सकता है। हरेक पति अपनी पत्नी की इच्छाएँ थोड़ी-बहुत पूरी ही करता है। पर हरिराम ने मारपीट और गाली-गलौज के अलावा देवकी को क्या दिया है? नहीं, अब वह दाँत बनवाने के लिये हरिराम से कभी न कहेगी। कहने से फायदा भी क्या? देवकी यह अच्छी तरह

जानती है कि हरिराम इसके लिये कभी राजी न होगा। कल नरेन्द्र आ रहा है। गर्मियों की छुट्टियाँ हो गयी है। उससे कहना ही ठीक होगा। नरेन्द्र के पास रुपये कहाँ है ? पर दाँत बनवाने लायक कुछ रुपये उसने इकट्ठे कर ही लिये होंगे। नरेन्द्र को सिर्फ उसे लखनऊ ले जाना पड़ेगा और वहाँ दाँत बनवा देने होंगे। लखनऊ ! देवकी का सारा शरीर आनंद से रोमांचित हो उठा ! कैसी विचित्र, कैसी सुन्दर जगह है लखनऊ ! लखनऊ के बारे में उसने जमींदार-पत्नी से कितनी ही कहानियाँ सुनी है। वहाँ अनेक प्रकार की रोशनी है, तरह-तरह की सवारियाँ है, विशाल अट्टालिकाएँ है और है अजायबघर तथा चिड़ियाघर, जहाँ, दुनिया भर के पशु-पक्षी है। दाँत बनवाने के साथ-साथ ये सब चीजें भी वह देख लेगी।

दूसरे दिन दोपहर से कुछ पहले ही नरेन्द्र और उसकी पत्नी निर्मला आ गयी। देवकी उन्हें लेने स्टेशन गयी। निर्मला बड़ी सुन्दर साड़ी पहने है, इन्द्रधनुष के रंगों वाली। इस साड़ी में निर्मला का रूप भी खूब निखर रहा है। लेकिन जब वह यहाँ से गयी थी, तब तो उसके पास यह साड़ी न थी। नरेन्द्र ने शायद खरीद दी है ? वहाँ बहुत अच्छी साड़ियाँ मिलती हैं और काफी सस्ती भी। ठीक है, बेटा-बहू सुख से रहें, यही तो उसकी इच्छा है। रंगीन साड़ियाँ पहनने की उम्र क्या देवकी की है ?

ट्रेन से उतर कर, दोनों ने एक साथ ही देवकी को प्रणाम किया। जल्दी में नरेन्द्र और निर्मला के हाथ टकरा गये तीनों ने ही यह गौर किया।

नरेन्द्र ने पूछा : "मां, अच्छी तरह हो न ?"

निर्मला ने जैसे प्रतिध्वनि की : "अच्छी हो, मां ?"

देवकी गौर किये बिना न रह सकी। दोनों ने एक साथ ही कुशलता पूछी लेकिन उनकी आँखे उसकी ओर न हो कर, एक-दूसरे की ओर ही थीं।

देवकी ने कहा : "हाँ, किसी तरह दिन कटे जा रहे है। नरेन्द्र, तुम आगे-आगे चलो। और बहू, तुम मेरे साथ आओ। हाँ, बहू, ख्याल रखो,

यह गाँव है। ऐसी कोई बात न हो कि चार आदमी हँसी उड़ायें।"

निर्मला कुछ स्तंभित हुई। इसका कारण उसकी समझ में आ गया, लेकिन उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

कुली ने सामान उठाया और चल दिया।

हाथ के हुक्के को एक कोने में रख, हरिराम ने कुली के सिर पर से सामान उतारा।

नरेन्द्र मदद देने आया, पर उसे रोकते हुए हरिराम ने कहा: "नहीं, नहीं, तुम रहने दो। तुम अपने कपड़े उतार कर सुस्ता लो।"

कपड़ों की एक पोटली, एक सूटकेस और इसके बाद काठ का एक भारी बक्स उतार कर हरिराम ने पूछा: "अरे, नरेन्द्र, इसमें क्या है?"

नरेन्द्र ने ठीक इसी प्रश्न की आशंका की थी: "उसमें कुछ नहीं है। एक पुराना हारमोनियम है।"

"हारमोनियम! कहाँ से लाया?"

"अपने एक दोस्त से खरीदा है। बहुत सस्ता मिल गया। सिर्फ तीस रुपये में और वह भी इंस्टालमेंट पर।"

"लेकिन देने तो पड़ेंगे ही। ये फालतू चीजें खरीदने के लिये किसने कहा? बहू की सलाह रही होगी? चालीस रुपल्ली महीना पाता है और शौकीनी इतनी है!"

नरेन्द्र कुछ कहनेवाला था, लेकिन चुप रहा।

खाने-पीने के बाद, हरिराम ने देवकी से पूछा: "नरेन्द्र कहाँ है?"

देवकी ने हँस कर कहा: "बहू से बातें कर रहा है।"

हरिराम ने मुस्कुराते हुए, जवाब दिया: "आज-कल के लड़के! ......नौकरी करके लड़का अमीर हो गया है। उसी से दाँत बनवाने के लिये कह कर एक बार देखो न।"

देवकी चौंकी कि हरिराम को उसके मन की बात का पता कैसे लगा।

हरिराम फिर हँसा, जैसे उसे बहुत आनन्द आ रहा हो। बोला—"आज शाम को मेरे सामने ही यह कहना। समझीं? कमाऊ पूत है, पढ़ा-लिखा है। देखें क्या करता है!"

लड़का क्या कहेगा, यह जानने की इच्छा उसकी भी कम नहीं है।

शाम के वक्त इधर-उधर की काफी-बातचीत के बाद, देवकी ने दाँत बनवाने का जिक्र छेड़ा :

"अब तुम नौकरी तो कर ही रहे हो, मेरे दाँत बनवा दो। कुछ खाया नहीं जाता और जो कुछ खाती भी हूँ, वह हजम नहीं होता।"

कुछ देर चुप रहने के बाद नरेन्द्र बोला : "मा, यहाँ तो दाँत बनते नहीं।"

"यहाँ बनवाने के लिये तो नहीं कह रहा हूँ, बेटा! तेरी दो महीने की छुट्टियाँ हैं। लखनऊ ले चल।"

"हाँ, छुट्टियां तो हैं लेकिन लखनऊ आने-जाने और दाँत बनवाने में बहुत रुपये खर्च होंगे।"

कुछ दूरी पर बैठा हरिराम हुक्का पी रहा था। एक बार आँखें उठा कर अर्थपूर्ण दृष्टि से उसने देवकी की ओर देखा। देवकी भी उसकी तरफ देख कर मुस्कराई। फिर नरेन्द्र की ओर देखते हुए उसने कहा : "हाँ, काफी रुपये तो खर्च होंगे ही बेटा!"

नरेन्द्र ने कुछ सोच कर, जवाब दिया : "अच्छा, मां! तुम तो कल से एक सेर दूध पिया करो। दूध में सब बिटैमिन रहते हैं। सिर्फ दूध पी कर ही आदमी जिन्दा रह सकता है। इसके अलाव दाँत बनवाने से कोई फायदा नहीं। खाना-खाने के बाद हर दफा दाँत खोल कर धोने पड़ते हैं। यह भी एक झंझट है—नित्य का। फिर किसी के ठीक फिट नहीं होते, किसी के दर्द होता है। इसलिये ये नकली दाँत बेकार-से होते हैं।"

हरिराम ने धुंयें का लम्बा सुरसुरा फेंक कर अर्थपूर्ण भाव से सिर हिलाया।......

रात में सोते वक्त हरिराम ने कहा—"देखा न? हजरत ने दाँत बनवाने की जहमत से बचने के लिये क्या-क्या बहाने खोज निकाले!"

देवकी बोली—"उस बेचारे का क्या दोष है? उसके पास रुपये हैं ही कहाँ? कुल चालीस ही तो पाता है।"

"माँ के दाँत बनवाने के लिये रुपये नहीं हैं, बीवी के लिये साड़ियाँ और हारमोनियम खरीदने के लिये रुपये हैं! तुम हो बेवकूफ! अगर उसकी इच्छा हो, तो तुम्हें एक बार क्या, तीन बार लखनऊ ले जा सकता है और दाँत बनवा सकता है।"

देवकी ने कहा: "ठीक है। लेकिन उसी को क्या कहूँ? तुम भी तो बनवा सकते हो, लेकिन...."

"अच्छा, सुनो, मैं हफ्ते भर में तुम्हारे दाँत बनवा दूंगा। हाँ, जरा चिलम तो भर लाओ।"

हुक्के का दम लगाते-लगाते हरिराम ने कहा: "काफी रात हो गयी, अभी तक वे नहीं सोये?"

अब देवकी जरा लज्जित हुई: 'क्या कहते हो? मैं भी जाती हूँ सोने।"

हरिराम ने जल्दी से कहा: 'नहीं, यहीं बैठो अच्छा दाँत बनवा देने पर क्या वाकई तुम खुश हो जाओगी?'

देवकी मौन थी।

———

રતકી મુલાકાત

आधी रात में ट्रेन बदलना बहुत तकलीफदेह है ।

कड़ाके की सर्दी । दिसम्बर का महीना । बच्चे सो रहे हैं, जगाने पर पर भी नहीं उठते । फिर सामान भी कुछ कम नहीं । बड़े-बड़े दो संदूक, तीन सूटकेस, चार बिस्तरे, दो लालटेन, टिफिन-केरियर, सुराही और दूध की बोतल,——क्या नहीं ?

वाकई, आब-हवा बदलने के लिये कहीं बाहर जाने पर बड़ी मुसीबत होती है ।

'ठहरो, ठहरो । इतने उतावले न हो । पहले ट्रेन को तो ठहरने दो । अरे बाबा, बाहर तो कुछ भी नजर नहीं आता । एक तो आधी रात और ऊपर से इतना कुहासा छाया हुआ है । शायद बिजली की बत्तियाँ भी नहीं जल रही हैं । सुनते हो, सारी चीजें समेट कर जल्दी से बैंडिग में बांध दो । अरे, यह कैसा स्टेशन है——यहाँ कुली भी मिलेगा ?' सिर को ढँकते हुए शैलबाला ने पति की ओर देखा ।

शिवनाथ ने कहा : 'आब-हवा बदलने की वजह से तुम तो काफी तंदुरुस्त हो गयी हो, कुली-खर्च में कुछ बचत कर दो न !'

मुस्कुराते हुए शैल ने जवाब दिया : 'अपना यह पाँच मन का लगेज तुम मुझसे उठवाना.....।'

'हर्ज क्या है ?'——शिवनाथ ने कहा : 'तुमसे इतना भी नहीं होगा ? अच्छा, मैं भी तुम्हारी कुछ मदद कर दूँगा ।'

'तुम ?'—शैल बोली : 'तुम तो बीमार हो। यह लो कम्बल इसे ओढ़ कर उतरो नहीं तो सर्दी लग जायगी। रमेश का हाथ पकड़ लो। रेणु खुद उतर जायगी और अजीत को मैं अपनी गोद में ले लेती हूँ। ठहरो, पहिले ट्रेन को रुकने दो! क्या टाइम हुआ है ?'

'साढ़े बारह बजे हैं।'

'हमारी ट्रेन कब आयेगी ?'

'करीब तीन बजे!'

'हे भगवान्! मुझे तो डर लगता है। एक तो पहिले से ही तुम्हें बुखार है; और कहीं सर्दी लग गयी तो? यहाँ वेटिंग रूम है ?'

'पति-भक्ति में तुम अंधी हो। इतनी उतावली की क्या जरूरत है।'

एक झटके के साथ स्टेशन पर ट्रेन खड़ी हो गयी। सर्दी की इस रात में भी कुली, फेरीवाले और मुसाफिर—किसी की भी कमी नहीं है। ट्रेन के ठहरते ही कई कुलियों ने दरवाजे को घेर लिया। शिवनाथ दरवाजा खोल ही रहे थे कि आवाज आयी : 'मेरे पास मफलर है। पहले इससे अपना गला और कान अच्छी तरह ढँक लो।'

इतने मुसाफिरों के सामने पत्नी से बहस करने की इच्छा शिवनाथ की नहीं है। वे आ रहे थे कि शैल ने स्वयं ही आगे बढ़ कर उनके कान और गले को मफलर से ढँक दिय। कहा : 'चलो, वेटिंग-रूम में पहुँच कर पहले तुम्हारे लिये थोड़ा-सा ओवलटीन बना दूँ।'

'जो आज्ञा देवी, पर जान न लेना।'

इसमें शक नहीं कि यह औरत जबरदस्त है। छोटे बच्चे को कंधे से लगाया, एक का हाथ पकड़ा, एक आँख पति की तरफ और दूसरी लगेज पर इसके बाद उपस्थित जनता की परवाह न करते हुए बड़े शोरगुल के साथ वह ट्रेन से प्लेटफार्म पर उतरी। बड़ी लड़की रेणु का हाथ पकड़े हुए शिवनाथ उतरे और तीन कुलियों ने सारा असबाब उठाया।

'करीब ढाई घंटे यहाँ काटने होंगे। काफी लम्बा वक्त है। अतः ऐसी जगह चाहिये जहाँ बिछौने बिछाए जा सकें'—शैल ने कहा : 'औरतों के वेटिंग रूम में मैं नहीं बैठूंगी, तुम्हें कौन देखेगा? चलो, मर्दों के वेटिंग रूम में ही चलें; बिस्तरे बिछा कर बच्चों को सुला दे। ओह, कैसी कड़ाके की सर्दी है। ऐ कुली, इधर आओ! किधर है?'

'यहाँ है, इधर। तुम इतनी जल्दी क्यों मचाती हो, थोड़ा सब्र से काम लो।'

'क्या करूँ? तुम बीमार जो हो। राजी-खुशी हम घर पहुँच जायें, तब जान में जान आये। ऐ कुली, सब सामान इधर लाओ, अंदर एक तरफ रखो!' अपनी आवाज को कुछ धीमा करते हुए शैल ने कहा : 'ऐजी, देखो, जाने कौन आदमी चोर की तरह दबे पाँव हमारा पीछा कर रहा है।'

शिवनाथ ने इधर-उधर देखा : 'कहाँ? आसपास तो कोई भी नहीं है। तुम सुंदर हो और ऊपर से काफी गहने भी पहने हुई हो—लोगों का क्या कसूर?'

'चुप रहो, तुम्हें तो हर वक्त मजाक ही सूझता है। इतनी अंधेरी रात है, जी काँपता है।'

'तुम्हें देख कर तो चोर भी डर से भाग जायेंगे।'

'क्यों?'

'तुम्हारा शासन और पति-भक्ति देख कर!'

वेटिंग -रूम में पहुँच कर कुलियों ने सामान उतारा। शिवनाथ ने उनसे कहा : 'तीन बजे की मेल से हम कलकत्ता जायेंगे, उस गाड़ी में हमें बिठा देना तब पैसे मिलेंगे। समझे।'

तीनों कुली चले गये। शैल ने बिस्तरा बिछाया और बच्चों को सुला दिया। बड़ी बेंच पर पति के लिये दरी और कम्बल बिछा दिया तथा पति और बच्चों के बीच अपने लिये थोड़ी सी जगह करके बैठ गयी : 'मुझे तो नींद आ रही है, सोता हूँ, तुम चाहे जागकर पहरा दो।' शिवनाथ ने कहा।

'पहिले गरम-गरम ओवलटीन पी लो, फिर आराम से सोना।'

'और तुम ?'

'मैं जागती रहूँगी। दो दिन से एक पाई का भी हिसाब नहीं लिखा है—अब लिखूँगी। इस काम के लिये ढाई घंटे का वक्त कम थोड़े ही है !'

'हे भगवान् !'

स्टोव जलाते वक्त शैल की नजर एकाएक दरवाजे पर पड़ी। इतनी रात होने पर भी स्टेशन सूनसान नहीं है, चहल-पहल है। बीच-बीच में लोगों का आना-जाना, फेरीवाले और कुलियों का कोलाहल और शंटिंग गाड़ियों की सीटी की आवाज सुनाई पड़ती है। तार की जालियों का दरवाजा है। उधर नजर पड़ते ही शैल डर से काँप उठी। भयभीत आवाज में उसने कहा—'सुनते हो, जरा एक बार उठो तो सही।'

शिवनाथ बेंच पर बैठ गये। बोले : 'क्यों, क्या बात है ?'

'वही आदमी ! एक बार जरा बाहर जा कर देखो तो सही; कोई आदमी यहाँ चक्कर लगा रहा है !'—यह कहते हुए शैल ने अपने शरीर के गहनों को चादर से ढँका और स्टोव छोड़ कर कमरे के एक कोने में खड़ी हो गयी। अखबारों में पढ़ी हुई ट्रेन-डकैतियों की घटनाएँ एक-एक कर उसकी आँखों के सामने गुजर रही थीं।

शिवनाथ ने उठ कर दरवाजा खोला। शैल ने झूठ नहीं कहा था। प्रकाश और अंधकार की छाया में टोप लगाये हुए एक युवक खड़ा था। उन्हें देखते ही वह दो कदम आगे बढ़ आया।

शिवनाथ ने प्रश्न किया—'आप क्या चाहते हैं ?

'कुछ नहीं।'

'फिर यहाँ खड़े क्यों हैं ?'

'मैं तो सिर्फ आप लोगों को देखने के लिये खड़ा था।' युवक ने हँसते हुए कहा।

'क्यों ? आप कौन हैं ?'

'आपने मुझे नहीं पहचाना ? मेरा नाम निरंजन शर्मा है। नहीं पहचान सके न ?'

शिवनाथ को स्वीकार करना ही पड़ा कि वे नहीं पहचान सके हैं। फिर बोले--'क्या आप मुझे पहचानते हैं ?'

निरंजन ने कहा--'माफ करें, आपको तो ज्यादा नहीं पहचानता, पर आपकी पत्नी महोदया को अच्छी तरह जानता हूँ।'

'मेरी पत्नी को ?'

'जी हाँ।'

'यह तो अजीब बात है। कहिये तो सही, आप हैं कौन ?'

निरंजन मुस्कुराया। बोला : 'आपकी पत्नी का नाम 'शैलबाला' है न ? जरा उन्हें बुलाइये।'

शिवनाथ ने बड़े गौर से निरंजन को ऊपर से नीचे तक ते देखा। कहा, 'यह तो कुछ समझ में नहीं आया--आप उनके रिश्तेदार हैं ?'

'हाँ, एक प्रकार से।'

'यानी ?'

'यानी शास्त्रानुसार नहीं, लेकिन गाँव के रिश्ते से ....,

शिवनाथ ने कहा : 'पर वे तो गाँव की नहीं हैं।'

निरंजन ने सविनय उत्तर दिया, 'रांची शहर के एक हिस्से का नाम पहले 'गोविंद-गाँव' था। आप डरते क्यों हैं, उन्हें एकबार बुलाइये न ! मैं कोई चोर-उचक्का नहीं हूँ, गांधीजी का चेला हूँ।'

अब शिवनाथ भी हँसे। बोले : 'लेकिन इससे डर तो दूर नहीं हुआ।' यह कह कर वे दो कदम भीतर बढ़ गये और पुकारा--'तुम जरा इधर आना तो।'

शैल की समझमें कुछ न आया। उसने इशारे से कहा : 'मुझे क्यों ? मैं नहीं आती !'

'अरे, आओ न। ये एक अहिंसक व्यक्ति है। गाँव का क्या रिश्ता है यह तो इन्होंने अभी तक नहीं बताया, पर उम्मीद है कि डर की कोई बात नहीं है क्योंकि ये सत्याग्रही हैं, गांधीजी के अनुयायी हैं।'

निरंजन ने कहा : 'अच्छा, अगर उन्हें आने में डर लगता है तो मैं खुद ही भीतर आता हूँ।'

अंदर आ कर निरंजन ने टोप उतार दिया। कमरे में तेज रोशनी थी। शैलबाला ने घूँघट काढ़ लिया था। अब आश्चर्य से उसने घूँघट हटा दिया और हँसते हुए बोली : 'अरे....तुम !'

निरंजन ने पूछा : 'बताओ तो सही, मैं कौन हूँ ?'

'तुम तो वही हमारे कालूराम हो !'

शिवनाथ ने आश्चर्य से कहा : 'कालूराम !'

'अरे हाँ, इसका नाम तो निरंजन है। बचपन में काले रंग की वजह से हम लोग चिढ़ाने के लिये इसे 'कालूराम' कहते थे। लेकिन तुम यहाँ कैसे ?'—यह कहते हुए हँसती हुई शैलबाला नजदीक आ कर खड़ी हो गयी : 'अरे, अब तो तुम पहिचाने भी नहीं जाते। कहाँ एक दुबला-पतला लड़का, और अब यह लंबा-चौड़ा जवान ! तुम्हारा रंग भी पहले से काफी साफ हो गया है, कैसे कालूराम ?'

'देखो, अगर तुम मुझे बार-बार कालूराम कहोगी तो मैं नहीं बोलूँगा।' हँसते हुए निरंजन ने कहा।

तीनों ने परस्पर की ओर देखा और हँसी से सारा कमरा गूँज उठा।

शैल ने फिर बातें शुरू कीं। पति से कहा : 'तुम इसे नहीं पहिचानते। सिर्फ शादी के दिन तुमने इसे देखा था, आज से ग्यारह साल पहले। ये हजरत हमारे मकान में ही रहते थे। तुम्हारी मां आजकल कहाँ है, निरंजन ?'

निरंजन ने उत्तर दिया : 'लखनऊ में—हमारे चाचा के यहाँ।'

'तुम्हारी दोनों बहनें कहाँ हैं ? अनिमा की शादी हो गयी ?'

'हाँ, वे सब ससुराल में हैं।'

'शादी हुए कितने दिन हुए ? तुमने शादी कर ली ?

'हाँ !'

'बहू कहाँ है ? कोई बाल-बच्चा हुआ है ?'

'हाँ, एक लड़का है। वह छोटी लाइन वाले वेटिंग रूम में है।'

शैल ने खुश हो कर कहा : 'अच्छा, उस तरफवाले वेटिंग रूम में तुम्हारी बहू है ! ठहरो, उसे देखने मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। हम लोग आब-हवा बदलने मंसूरी गये थे, अब कलकत्ता वापस जा रहे हैं। यहाँ से मेल ट्रेन पकड़नी है। इनकी तबियत यदि ठीक रहती तो शायद हफ्ता-दो हफ्ता और ठहर जाते।'

अब शिवनाथ इतमीनान के साथ बेंच पर लेट गये। निरंजन बोला, 'अब मुझे आपका नाम याद आ गया—शिवनाथ उपाध्याय। शायद आप भूल गये कि ब्याह में मैंने ही आपके जूते छिपाये थे।'

शिवनाथ ने हँसते हुए जवाब दिया : 'गाँव के रिश्ते से जो मेरे साले होते हैं, उन्हें अनेकानेक धन्यवाद।'

शैल बोली : 'इसके बाद की बात बताते हुए शायद तुम्हें शर्म आती है, निरंजन ? मेरी विदाई के दिन तुम कितना रोये थे। हम दोनों प्रायः एक ही उम्र के थे। तुम्हें कोई शांत नहीं कर सका, तुम मेरा आंचल छोड़ते ही न थे। कहते—'मैं तो तुम्हारे साथ ही जाऊँगा। तुम्हें खुश करने के लिये मैंने एक अँगूठी दी तो तुमने रोते-रोते उसे रास्ते में फेंक दिया। ये सब बातें याद हैं, निरंजन ?'

निरंजन ने कहा : 'और ससुराल पहुँच कर तुमने एक चिट्ठी तक नहीं दी। कुछ दिनों बाद हमलोगों ने भी वह मकान छोड़ दिया और इस तरह सारा किस्सा ही खत्म हो गया।'

आँखें मटकाते हुए शिवनाथ बोले : 'और मैं भी बच गया !'

शैलबाला ने हँसते हुए कहा : 'पहले इन्हें गरम ओवल्टीन बना कर दे दूँ, तब तुम्हारी बहू देखने चलूँगी।' यह कह वह स्टोव पर दूध गरम करने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने पूछा : 'निरंजन, तुम्हारा लड़का कितना बड़ा है ?'

'करीब एक साल का।'

'बहुत सुंदर है ?'

निरंजन ने धीरे से कहा, पत्नी ही सुंदर है !'

'हूँ।'

शिवनाथ ने टिप्पणी की, 'हरेक पत्नी सुंदर होती है, मेरी इस नटखट पत्नी को ही देखो न !'

शैल ने टोका : 'ठहरो ! तुम हमारे बीच में क्यों बोलते हो जी ? अच्छा निरंजन, तुम्हारी पत्नी तुम्हें खूब चाहती है न ?'

शिवनाथ ने ही इसका जवाब दिया : 'संतान होने के बाद यह प्रश्न ही नहीं उठता !'

अपनी हँसी रोकते हुए शैल बोली : 'अच्छा, तुम्हारी बहू से ही यह यह पूछूँगी। क्यों, ठीक है न ?'

'तुम्हारी जैसी इच्छा, उसीसे पूछना। तुम्हारे ये तीन बच्चे हैं ?'

'हाँ, लड़की सबसे बड़ी है। बस, सात-आठ साल बाद इसकी भी शादी हो जायगी। देखो न, देखते ही देखते हमारी कितनी उम्र कट गयी !'

शिवनाथ ने पूछा : 'निरंजन बाबू, आप कहाँ जायेंगे ?'

'इसे बाबू बनाने की जरूरत नहीं। सारी बातें याद आ रही हैं—वही दुबला-पतला लड़का, दिन भर पतंग उड़ाता था और हमारे कमरे में आकर सारे खिलौने तोड़-फोड़ देता था। ओह, यह हम लोगों से बहुत लड़ता-झगड़ता था, मारपीट करता था और मेरे बक्स से पैसे निकाल कर भाग जाता था। निरंजन, अपनी ये सब शैतानियाँ तुम्हें याद हैं ?'

हँसते हुए निरंजन ने जवाब दिया : 'नहीं।'

'नहीं ! दुष्ट कहीं के !! सुनो, एक दिन मैं और इसकी बहिन कमरे में सो रही थीं। यह कमरे में घुसा और चुपचाप हमारे सिर के बाल काट गया। हम दोनों बहुत रोये, दो दिन तक न तो इससे बोले और न हमने खाना ही खाया। यह घटना याद है ?'

'नहीं।'

'अच्छा, अपनी पत्नी के पास चलो, वहाँ सब याद आ जायगा। क्या टाइम हुआ है ?'

निरंजन ने रिस्टवाच देखते हुए कहा : 'एक बजा है। तुम लोगों की ट्रेन तीन बजे आयेगी और मेरी साढ़े तीन बजे।'

'अब जब भी तुम कलकत्ता आओ तो हमारे यहाँ ही ठहरना। साथ में अपनी बहू को भी जरूर लाना।'

'अच्छा।'

शैल ने स्टोव से दूध उतार कर ओवल्टीन मिलाया और ग्लास पति की ओर बढ़ा दिया। फिर, वह खड़ी हो गयी और बोली : 'मैं इसकी बहू देखने जा रही हूँ। तुम दूध पी कर सो जाना। जल्दी ही लौट आऊँगी।'

शिवनाथ ने कहा : 'यहाँ बड़ा आराम है, मजे की नींद आयेगी।'

निरंजन ने कहा : 'आप भी चलिये न, बहू को देख लीजियेगा।'

'बहूरानी को मेरा आर्शिवाद । उनसे कहियेगा कि मैंने उन्हें अपने यहाँ बुलाया है।'

शैल दो कदम आगे बढ़ कर फिर लौट आयी। उसने अपना काश्मीरी शाल पति के मुँह तक ढँक दिया और धीरे से कहा : 'देखो, मेरे चले जाने के बाद इसे हटाना नहीं। बहू अच्छी न होगी तो फौरन ही वापस आ जाऊँगी।' और यह कह कर वह निरंजन के पीछे-पीछे वेटिंग रूम से बाहर निकल आयी।

भीतर की रोशनी, आराम और बातचीत में बाहर का कुछ ख्याल ही नहीं रहा था। हेमन्त की रात्रि के अँधकार में प्लेटफार्म के आगे, दूर-

बहुत दूर तक, कुहासा छाया हुआ था। स्टेशन के चारों ओर रात मानों साँय-साँय कर रही थी। प्रकाश और छाया में इस प्रदेश का अपरिचित चेहरा मानों किसी अस्पष्ट रहस्य से भरा हुआ था। एक आता है, एक जाता है, किधर से कौन आया और न जाने किस ओर से चला गया--यह सब मिल कर जैसे एक स्वप्न बन रहा था। ठंडी हवा के एक हल्के झोंके ने शैलबाला के मुख का स्पर्श कर उसमें एक स्फूर्त्ति ला दी।

कुछ दूर चलने के बाद शैलबाला ने पूछा: 'कालूराम, किधर? तुमने तो उधर वाले वेटिंग-रूम में कहा था! इतनी दूर कहाँ? तुम्हारी बहू कहाँ है?'

शैल का हँसता हुआ चेहरा देख कर निरंजन का मन खुशी से नाच उठा। वह रुक गया और बोला: 'एक बात कहूँ शैल, कुछ ख्याल न करना। मान लो कि हम पहले जैसे ही हैं।'

शैल ने अपना हँसता हुआ चेहरा निरंजन की तरफ घुमा कर कहा, 'कहो न, क्या कहते हो?'

'मैंने शादी नहीं की'--निरंजन ने निवेदन किया।

शैल ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा। कहा: 'अरे यह क्या? बहू दिखाने के बहाने तुम मुझे लाये? जरा ख्याल करो, वे क्या सोचेंगे? शादी नहीं की?'

'नहीं। लेकिन तुम थोड़ी देर बाद ही चली जाना, क्यों?'

शैल ने उत्तर दिया: 'खैर, मैं थोड़ी देर बाद ही चली जाऊँगी, पर तुम झूठ क्यों बोले? इतने दिनों बाद मिले......।'

निरंजन ने कहा: 'शादी नहीं हुई है, यह कहते हुए मुझे कुछ शर्म आती थी।'

'आजकल क्या कर रहे हो?'

'लखनऊ में प्रोफेसर हो गया हूँ। इतने दिनों बाद तुम्हें देखा और तब से ही मेरा दिल न जाने कैसा-कैसा हो रहा है।'

'शायद इसीलिये मिलने के साथ-साथ तुमने मुझे धोखा दिया ?' —हँसते हुए शैलबाला ने एक बार पीछे की ओर देखा और फिर कहा : 'अगर अभी वे वेटिंग रूम से बाहर निकल आयें, तो ? और जरा आगे चलो। तुम कितने दुष्ट हो !'

निरंजन ने भी हँसते हुए जवाब दिया : 'मैं दुष्ट क्यों ? मैं तो अब तुम्हारे खिलौने तोड़ने का नहीं।'

चलते-चलते शैलबाला बोली : 'मुझे तुमने संकट में डाल दिया। उन्हें यदि मालूम हो जाय कि तुम्हारी शादी नहीं हुई है और हम दोनों अकेले घूम रहे हैं—बताओ तो सही, तब वे मेरे बारे में क्या ख्याल करेंगे ?'

'एकाएक तुमसे भेंट होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की थी ?'—निरंजन ने कहना शुरू किया : 'ग्यारह वर्ष जैसे कल की बात हो। एक क्षण के लिये मनुष्य स्वप्न देखता है, पर उसी में मानों एक युग की कहानी रहती है !'

'तुम विचित्र आदमी हो जी ! इतनी भीड़ में मुझे कैसे पहचाना ? मैंने गौर किया था कि कोई शख्श मुझ पर नजर गड़ाये है। मुझे क्या पता था कि तुम्हीं वह चोर हो !'—शैलबाला ने कहा : 'सच' यह स्वप्न जैसा लगता है। ओह, तुम कितना रोये थे और मेरी आँखें भी रोते-रोते सूज गयी थीं। बचपन का प्रेम मनुष्य को बहुत रुलाता है। अब हम कहाँ आ गये हैं, यह समझ में नहीं आता। तुम्हारा चेहरा देख कर पहिले तो मैं हैरत में आ गयी थी। क्या देख रहे हो ?'

निरंजन हँसा और मुँह फिरा कर बोला : 'तुम्हें देख रहा हूँ।'

'क्या ?'

'तुम्हारी चमकीली आँखें, पतले-पतले रसीले होंठ और गुलाब जैसा मुखड़ा—सब कुछ पहले जैसा ही है, तुम जरा भी नहीं बदलीं।'

'हटो !'—शैल ने शर्म से कुछ मुस्कुराते हुए कहा।

'तुम तो बिलकुल पहले जैसी ही हो।'

'तुम्हारे लिये न। तुम पागल हो। तीन बच्चों की मां हूँ, मालूम है? चलो न, उधर चलें।'

निरंजन ने कहा—'गिर तो न पड़ोगी? चारों ओर अंधेरा है।'

शैल ने उत्तर दिया: 'अंधेरा है तो रहने दो। इस ठंड में घूमना बहुत अच्छा लगता है। शादी नहीं की, यह अच्छा ही किया, निरंजन! जीवन में अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। ऐसा लगता है, जैसे एक बंधे हुए रास्ते पर ही गतानुगतिक भाव से हमारा जीवन चलता जाता है। इधर-उधर होने की वहाँ गुंजाइश नहीं है। अपने पैरों पर नहीं चला जाता, दूसरे की व्यवस्था पर निर्भर करना पड़ता है। तुम बहुत मजे में हो।'

प्लेटफार्म को पार कर के वे आगे बढ़ गये। सामने कोई रोक-टोक न थी और न पीछे ही कोई बाधा। समय और परिस्थिति मन का एक जाल है। उसका आवरण हटा कर उन्होंने देखा कि अतीत जीवन ही वर्त्तमान में आ गया है, उम्र का प्रश्न विस्मृति में लुप्त हो गया है। शैलबाला के आचरण में संकोच या जड़ता न रही क्योंकि इस पुरुष में उसने एक बहुत पुराने साथी को पहचाना है इसलिये वह निरापद है। इस अंधकारमय पथ पर मानों समय का व्यवधान मिट-सा गया है और वे प्रकृति के उस आदि युग में जा पहुँचे हैं, जब संस्कार और नीति ने मानव का स्पर्श तक नहीं किया था।

निरंजन ने निस्तब्धता भंग की: 'तुम्हारे पति बड़े अच्छे लगे, बहुत हँसमुख हैं। मित्र जैसा व्यवहार। वाकई, बड़े सज्जन पुरुष हैं।'

'वे कमजोर हैं, सहारा दे कर चलाना पड़ता है'—शैलबाला ने कहा 'खैर, पति की बातें अभी रहने दो। अच्छा बताओ कालूराम, यहाँ इतनी सुगंध कहा से आ रही है!'

'यह देखो, यहाँ चारों ओर रात-रानी और चमेली के फूल हैं। होशियारी से पैर बढ़ाओ; इधर रेल की पटरियाँ हैं।'

शैल ने अपना बायां हाथ बढ़ा कर निरंजन का हाथ पकड़ लिया।

कहा : 'कैसा अच्छा लग रहा है। कैसी शान्ति है। कितनी खुश हूँ ! मंसूरी में इतने दिनों तक घूमी, पर आज मेरे मन की साध पूरी हुई है। इच्छा होती है कि इन नरम-नरम घास पर बैठ जाऊँ; कैसा घना कुहासा है और कैसी तीखी हवा !'

निरंजन ने शान्ति के साथ कहा : 'यहाँ और कोई नहीं है। सिर्फ हैं कुछ दीपक जैसे टिमटिमाते हुए तारों से भरा आकाश और हैं हम। यह रात कितनी सुंदर है।'

'इस रात से भी ज्यादा हम और तुम आश्चर्यमय हैं।'—शैल ने कहा, 'ग्रहों के फेर ने एकाएक तुम्हें यहाँ ला दिया ! कल सुबह सूर्य के प्रकाश में मुझे यह विश्वास न होगा कि रात को तुम मेरे साथ थे। चलो, और आगे चलें।'

'चलोगी, खूब दूर ? आगे—गाँव की तरफ ?'

'हाँ, ले चलो, जहाँ भी तुम्हारा जी चाहे।'

'और अगर लौटने में देर हो ? वे तुम्हारी तलाश करने निकलें ?'

शैल ने कहा : 'लौटना मुझे अच्छा नहीं लगता। रात जैसे एक नशा है, एकान्त एक मोह है ? चलो, आगे बढ़े चलो—रुको नहीं।'

निरंजन बोला : 'आज इस रात में हमारा मन वास्तविकता से दूर भाग गया है और कल सुबह हमारा मन विचित्र हो जायगा। तब तुम्हें जानने-पहचानने लायक उम्र न थी और आज भी पहचानने के पहले ही चली जाओगी। ग्यारह साल तक तुम्हें नहीं देखा और अगर जिन्दगी भर तुम न मिलती, तो भी कुछ ज्यादा नुकसान न होता—पर आज जब तुम मिल गयी हो तो छोड़ने को जी नहीं चाहता।'

रेल पथ की सीमा को पार कर के वे एक अनजान पगडंडी पर ज पहुँचे। रास्ता मालूम नहीं और इसकी जरूरत भी नहीं। दोनों ओर छोटी-छोटी झाड़ियाँ हैं, बीच-बीच में मैदान है और कहीं-कहीं सिपाही की तरह लम्बे पेड़ खड़े हैं। इसी रास्ते पर वे दोनों चुपचाप चले जा रहे हैं।

कुछ दूर तक चलने के बाद निरंजन ने कहा : 'शैल !'

शैलबाला ने अपना कोमल बायां हाथ आगे बढ़ा कर कहा : 'लौटने के लिये मत कहो......मुझे नींद आ रही है, आँखें झपक रही हैं ।'

उसके कंधे पर अपना हाथ रखते हुए निरंजन ने कहा : 'आज तुम दूसरे की हो, तब भी मुझे यह कहते शर्म नहीं आता कि......'

'क्या कहते हुए ?'

'जो बचपन में कहना नहीं जानता था, अब वही बात मेरे होंठों पर बार-बार आती है ।'

शैलबाला ने एक ठंडी सांस छोड़ कर कहा : 'बहुत देर हो गयी है । तो भी अगर तुम्हें कहना अच्छा लगता है, तो मैं बड़े ध्यान से सुनूंगी ।'

'सच कहता हूँ, सात्विक आनन्द से मेरा सारा शरीर काँप रहा है । तुम्हारे बालों की सुगंध में ग्यारह वर्षों के करुण विरह का संकेत है । प्रेम की बातें कहने की अब उम्र नहीं है और तुम्हारे जीवन में तो वात्सल्य की धारा भी प्रभावित है । आज हम दोनों में केवल अतीत की स्मृतियों का संबंध रह गया है !'

धीमी आवाज में शैल ने कहा : 'बहुत देर हो गयी है । किसी भी दिन कहा न जा सका और न कहा ही जा सकता था । उन बीते हुए दिनों की बातें आज याद आती हैं, निरंजन ! जब अपने को देखने लायक आँखें न थीं और दूसरों पर नजर नहीं पड़ी थी । उस समय के आश्चर्यमय अचैतन्य के तुम साथी हो । तुमने जानना नहीं चाहा, और मैं भी जान न सकी । और फिर उम्र के साथ-साथ शरीर भी शिथिल होता गया । आज तुम्हारे मिलन से मुझे फिर वही निर्मल प्राचीन आत्मा मिल गयी । इस आत्मा का कैशोर कभी कम न होगा । निरंजन, आज तुम सुंदर हो, स्वस्थ हो--पर उन दिनों का वह दुर्बल बालक मुझे बड़ा प्यारा है, मुझे बहुत अच्छा लगता है । क्या तुम इसपर विश्वास करोगे ?'

'हाँ, विश्वास करता हूँ'--निरंजन ने जवाब दिया : 'इसीलिये, आज नये ढंग से यह बताने की जरूरत नहीं है कि तुम मेरी कौन हो। मेरी समझ में नहीं आता कि इस संबंध को क्या कहा जाय। मैं भाई नहीं हूँ, मित्र नहीं और शिवनाथ भी नहीं। लेकिन तो भी, सब मिला कर तुम्हारे साथ न जाने कैसा निगूढ़, निर्बोध आत्मा का एकाकार है।'

अपने मुँह को ऊपर उठाते हुए कंपित स्वर में शैलबाला ने कहना शुरू किया : 'कहते जाओ, मैं तुम्हें न रोकूँगी। इस अंधकार में तुम कहो, एक रात के लिये तुम्हारी जो इच्छा हो सो कहो। इन ग्यारह वर्षों में तुम्हारे बारे में एक दिन भी कुछ नहीं सोचा और आज तुम्हारे अलावा अन्य कुछ याद करने की इच्छा भी नहीं होती। तुम्हें देने लायक मेरे पास कुछ नहीं है, निरंजन! तो भी न जाने क्या है, जो मेरे हृदय को चीर कर मुक्त होना चाहता है।'

जिस रास्ते पर वे घूमते हुए आगे बढ़े जा रहे थे, वह उत्तर-पूर्व से दक्षिण की ओर घूम गया है। इसी सूनसान अंधेरे रास्ते पर वे दोनों धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे थे। खोने का उन्हें डर नहीं, लौटने की फिक्र नहीं। रात उनके पीछे है, जैसे उन्हें उत्सुकता से देख रही हो; सामने पथ की रेखा बताती हुई विरक्तमना वसुन्धरा है, और ऊपर का नीलाकाश अगण्य नक्षत्रों सहित मानो नव मिलन का अभिनंदन कर रहा है। मधुर क्लान्ति और तंद्रा से दोनों के पैर अवसन्न हैं, जाग्रत स्वप्न और मोह की अचेतना में वे निमज्जित हैं।

'निरंजन!'

शैलबाला की अवश देह मानों पथ पर चूर-चूर हो कर गिरना चाहती है। मुँह घुमा कर स्पष्ट स्वर में निरंजन ने कहा--'क्यों?'

'मुँह से शब्द नहीं निकलते, क्यों? गला जैसे सूख गया है। अच्छा निरंजन, डर तो नहीं है?'

'मालूम नहीं, शैल।'

'कोई बुराई तो नहीं करेगा ?'

'पहले समझ नहीं सका था । अच्छा आओ, अब लौट चलें । वह देखो स्टेशन की रोशनी दिखाई देती है ।'

शैलबाला जैसे चौक पड़ी । एक अबोध आतुर दृष्टि से उसने स्टेशन की ओर देखा । निरजन के कंधे पर अपना सिर रखते हुए कहा : 'अगर तुम्हारी कोई बदनामी करे तो मुझे दोषी ठहराना । कहना, मैं ही तुम्हे बहका कर ले आयी थी । कहना, दुनिया मे मेरी जसी और कोई पापिनी नहीं है ।'

'मैंने ऐसा कभी ख्याल नहीं किया, शल ! इतने दिनों से हम लोगों मे वही दो बालक-बालिका जीवित है,'––निरंजन ने कहा ।

रास्ते के विचित्र घुमाव की वजह उन्होंने यह कल्पना भी न की थी कि घूमते-घामते वे स्टेशन के नजदीक आ गये है । रोशनी और कोलाहल के बीच जब वे आये तो एक बार घबड़ा गये, चौक उठे । रोशनी देखते ही शैलबाला की सहसा इच्छा हुई कि निरंजन का हाथ पकड़े हुए वह भाग कर फिर अधकार मे छिप जाय । पर अब वक्त न था । निरजन ने रिस्ट-वाच मे देखा––तीन बजने मे सिर्फ पंद्रह मिनट बाकी थे ।

'अपने आँसू पोंछ डालो, शेल, ! अपना पता देना । यह देखो, स्टेशन आ गया ।'

शैलबाला ने अपने बाल ठीक किये । हँसते हुए आँसू पोंछ डाले और सिर ढक लिया । फिर सकौतुक बोली––'मै तो समझी थी कि हम यह धरती छोड़कर चले गये हैं । क्या पता था कि हम इर्द-गिर्द ही चक्कर काट रहे है !'

'अब तुम्हारी गाड़ी छूटनेवाली है, जल्दी चलो ।'

इस कहानी का अन्त होना अभी बाकी था । निरंजन ने आगे होनेवाली घटना की कल्पना भी नहीं की थी । वे वेटिंग-रूम के पास पहुँचे ही थे कि पीछे से एक युवती रोती और चीखती-चिल्लाती हुई आयी, बोली : 'ऐ जी,

तुम इतनी देर से कहाँ थे ? तुम्हें तलाश करते-करते मैं तो परेशान हो गयी। और क्योंजी ये तुम्हारे साथ कौन है ?'

शैलबाला स्तंभित हो खड़ी हो गयी। निरंजन विमूढ़ और हतबुद्धि ! वह युवती अब उनके निकट और भी आ गयी और शैलबाला को तीक्ष्ण दृष्टि से घूरते हुए बोली : 'इन्हें तो मैं नहीं पहचानती और न आज से पहले कभी देखा ही है।'

'इन्हें ? हाँ, तुम इन्हें नहीं जानती'—निरंजन ने कुछ अपराधी जैसे स्वर में कहा। 'ये मेरी......। एक मिनट ठहरो—जरा इन्हें इनके पति के पास पहुँचा दूँ। चलो शैल !'

जिस पत्नी को देखने के लिये दो घंटा पहिले इतना आग्रह था, अब उसी पत्नी में शैलबाला कोई आकर्षण न खोज सकी, कोई दिलचस्पी नहीं रही; यहाँ तक कि दो शब्द कह कर सौजन्यता दिखाने की भी इच्छा नहीं हुई। उत्तेजना और असीम विरक्ति को मन ही मन दबा कर उसने सिर्फ यही कहा : 'तुमने शादी कर ली है, उस वक्त यह स्वीकार क्यों नहीं किया ?'

निरंजन का जैसे दम घुटा जा रहा हो। उसने एक बार बोलने की कोशि की : 'तुम्हारे साथ अकेला रह सकूँगा, इस लोभ से ही झूठ बोला था, शैल !'

'जाओ, अब पहुँचाने की कोई जरूरत नहीं !' यह कहते हुए उसने आंचल से अपना मुँह अच्छी तरह पोंछा और जल्दी से वेटिंग-रूम में घुस गयी।

———

ભારી

हजारीलाल ने आत्महत्या कर ली। सांसारिक सुखों की उसे कमी न थी। तब उसने आत्महत्या क्यों की ? यह कोई नहीं जानता था। तीन दिन बाद, शहर से पाँच मील दूर, एक घने जंगल में स्थित पोखर में उसकी लाश तैरती हुई मिली। उसकी लाश को पोस्टमार्टम के लिये पुलिस अस्पताल ले आयी।

दुबला-पतला हजारी लाल फूल कर एक दम ढोल हो गया था। जगह-जगह से गल कर उसका चमड़ा हट गया था और वहाँ रक्ताभ मांस नजर आता था। पीठ में पाँच इञ्च लम्बा घाव था। सारा शरीर नीली स्याही जैसा हो गया था। बालों की यह हालत थी, मानों कोलतार लपेट दिया गया हो। दाहिनी आँख के ऊपर भी घाव था, मानो किसी चीज से टकराया हो। एक हाथ स्ट्रैचर से नीचे की तरफ लटक रहा था, जैसे उसकी टेढ़ी अंगुलियाँ किसी को पकड़ना चाहती हों। नाक के पास भी काफी बड़ा घाव था और सारा शरीर पूर्ण रूप से नग्न था।

बन्द दरवाजे की आड़ से देखते-देखते निरंजन ने यूकलिप्टस में भींगी हुई रुमाल नाक में लगा ली। सड़े-गले मांस की दुर्गन्ध ने नाक में प्रवेश कर सारे शरीर को क्षण भर में ही अस्थिर कर दिया। ऐसा लगा मानो शरीर की सारी ग्रन्थियाँ बाहर आना चाहती हैं। देखते-देखते उसके दिमाग में विचार दौड़ने लगे---हजारीलाल ने आत्महत्या क्यों की। उसे किस बात का दुःख था ? उसकी पत्नी, अपने पति की यह वीभत्स, नग्न आकृति

देखकर अतीत-प्रेम की रातों की याद कर सकेगी ? सब कुछ सोच समझ कर ही हजारी लाल मरा था। पत्नी को हफ्ते भर पहले ही उसने पीहर भेज दिया था। लेकिन आत्महत्या क्यों की ?

निरंजन जरा दूर हट गया। उसे डर लगने लगा। ट्यूशन से जब वह लौट रहा था, रास्ते में विकास तथा उसके दूसरे साथियों से मुलाकात हो गयी और वे उसे अपने साथ यहाँ ले आये। उनमें यौवन का रक्त है, अतः एक परिचित ब्राह्मण की लाश का चमार और मेहतरों के द्वारा दाह-संस्कार न हो, इसलिये वे आये थे।

लेकिन निरंजन कितनी देर तक दूर खड़ा रहता ? हजारीलाल के गले हुए शरीर की तस्वीर सांप की तरह उसके दिमाग में चक्कर काटने लगी। जरा इधर-उधर टहल कर, वह दरवाजे पर आ कर फिर खड़ा हो गया। एक डाक्टर हाथ में छुरी और कैंची लिये खड़ा था, बगल में एक मेहतर भी था। अब पोस्टमार्टम होगा।

कुछ देर बाद ही चाकू चला। पुराने कपड़े की तरह पेट की तरफ का चमड़ा काट कर चाकू आगे बढ़ा। नसें और जलीय रक्ताभ पदार्थ जोर से बाहर निकल पड़े। अब छाती चीरी गयी। पीले और लाल रंग लिये हुए फेफड़े थे। इसके बाद सिर का नम्बर आया। हथौड़ी जैसे एक यंत्र के आघात से खोपड़ी का पिछला हिस्सा खुल कर गिर गया और साथ ही सड़े हुए घी जैसा रङ्गहीन पदार्थ भी निकला। सारा कमरा बदबू से भर गया। देखते-देखते निरजंन की आँखें फट कर बाहर निकलने को हो आयीं।

पोस्टमार्टम के कृत्य के बाद लाश श्मशान घाट पहुँचायी गयी, वहाँ जैसे-तैसे उसका दाह किया गया। दाह-संस्कार खत्म कर घर लौटने में निरंजन को पाँच बज गये। शरीर में सह्य वेदना और बेहद थकावट। मां सब्जी काट रही थी, पास ही छोटा भाई दिगम्बर रोता हुआ खाना माँग रहा था।

उसे देख कर मां ने पूछा : 'अब तक कहाँ थे ? फिकर हो रही थी, खाया-पीया भी कुछ नहीं। सारा दिन तेरी राह देखती रही। अरे कपड़े सब भींगे हुए हैं। क्या बात है।?'

भूख और थकावट से निरंजन बेचैन था। न जाने कैसा एक तन्द्रातुर भाव उसके मन और शरीर पर छाया था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

मां ने फिर प्रश्न किया : 'कहाँ गये थे ?'

क्लांत स्वर में निरंजन ने उत्तर दिया : 'दाह संस्कार करने।'

'किसका ? कौन मर गया ?'

'हजारीलाल नामक एक व्यक्ति ने आत्महत्या कर ली थी।'

'हे भगवान् ! क्यों ?'

'क्यों का तो किसी को भी पता नहीं। अब मुझसे कुछ न पूछो। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता है, मां।'

मां घबड़ा गयीं। उन्होंने कहा : 'जाओ, कपड़े बदल लो। सुबह की रोटी ढँकी हुई रक्खी है। जाओ।'

निरंजन हाथ-मुँह धो कर नशेबाज की तरह रोटी खाने बैठा। आँखों की दृष्टि उसे धुंधली-सी लगी, रोशनी अस्पष्ट नजर आयी। खाते-खाते मां के पैरों पर उसकी नजर पड़ी। हमेशा पानी में काम करने की वजह से पैर की अंगुलियों के नीचे की खाल गल गयी है——वहाँ घाव जैसा हो गया था, बहुत कुछ हजारीलाल की लाश के गले हुए मांस की तरह।

ग्रास तोड़ते हुए उसे सड़े मांस की बदबू-सी मालूम हुई। हाथ रुक गया। उल्टी रोकते हुए निरंजन खड़ा हो गया।

मां ने चकित हो कर प्रश्न किया : 'कुछ भी नहीं खाया ?'

'मां मुझसे खाया नहीं जाता।'

'क्यों सुबह से कुछ भी तो नहीं खाया। दो रोटियाँ खा कर.....'

निरंजन बिना कोई उत्तर दिये ही अपने कमरे में चला गया और एक किताब पढ़ने लगा। पर दिमाग में कुछ भी नहीं जाता था, अक्षर मानों,

दुर्बोध हो गये हैं —रहस्यमय बन गये हों। हजारीलाल की आत्महत्या के अलावा मस्तिष्क में और कोई दूसरी बात आती ही नहीं थी।

कब रात हो गयी, रात क्रमशः कैसे बढ़ती गयी, मकान के और सब व्यक्ति कब सो गये ? चारों ओर छाये हुए जङ्गल की निस्तब्धता और भी कब बढ़ गयी, यह वह कुछ न समझ सका। एक बार मां ने आ कर उससे खाने के लिये कहा था पर उसने नहीं खाया। एक भाव से बैठा हुआ वह सोचता रहा। बारम्बार उसे यही खयाल आने लगा कि यह जीवन अर्थहीन है—एक ही तरह का, वैचित्र्यहीन कुछ क्रियाओं की यंत्र जैसी पुनरावृत्ति, विदूषक हँसी की तरह मिथ्या। धीरे-धीरे अवश्यम्भावी परिणाम पर पहुँच कर खत्म होने में क्या लाभ।

पेड़ के पत्तों को हिलाती हुई हवा ने कमरे में प्रवेश किया। हवा में यूकलिप्टस और सड़े हुए नर-मांस की बदबू थी। रोशनी बुझा कर जब वह सोने लगा तब ऐसा लगा कि जैसे एक नग्न और गली हुई लाश भी उसकी बगल में सो रही है। डर से उसको पसीना आ गया।

कई दिन बीत गये। निरंजन मानों बिलकुल बदल गया था। ज्यादा बातें वह पहले भी नहीं करता था, आजकल वह पहले से भी ज्यादा गम्भीर हो गया था। हमेशा ही मानो वह चिन्ता-मग्न रहता। हजारीलाल की याद उसे आजकल नहीं आती। उसे जीवन सिर्फ अर्थहीन लगता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

मां ने एक दिन पूछा: 'क्यों रे निरंजन! तुझे क्या हो गया है ?'

जबरदस्ती हँसते हुए निरंजन ने जवाब दिया: 'कहां ? कुछ भी तो नहीं।'

एक महीना बीत गया। निरंजन को अपने मकान में अच्छा नहीं लगता था। मन की शक्ति और धैर्य मानों अब खत्म ही हुआ चाहता है। यन्त्र की तरह मां का मूक भाव से काम करना, दुःखमय जीवन की उनकी

अव्यक्त वेदना, पिता की उदासी भरी नीरवता, व्यर्थ जीवन की उनकी जीर्ण-शीर्ण मूर्त्तिमान आकृति, छोटे भाई बहनों की दारिद्र्य-जनित अर्द्ध-नग्नता, उनका चिरन्तन क्रन्दन और अभाव की वजह उनकी पशुओं जैसी लोलुपता--वह सहन नहीं कर सकता था। विश्वविद्यालय का श्रेष्ठ छात्र होते हुए भी दरिद्रता की वजह उसे अब तक कोई नौकरी नहीं मिली थी। लेकिन हाँ आशा है कि कहीं न कहीं नौकरी मिल ही जायगी। जब तक नहीं मिलती तब तक वह ट्यूशन पर ही गुजर करेगा। पर अब कुछ भी करना उसे अच्छा नहीं लगता, इच्छा नहीं होती। अर्थहीन जीवन की नींव में पानी देने से क्या लाभ ? इसलिये वह क्या करे ? इस क्लान्तिकर वायुमण्डल को छोड़ कर अगर कुछ दिन के लिये वह बाहर कहीं घूम आये तो ठीक होगा। शायद उसे कोई मानसिक रोग हो गया हो, नयी आबहवा से कुछ लाभ ही पहुँचेगा। इस काम के लिये वह किसी से पच्चीस रुपये उधार भी ले लेगा। भले ही इसे कोई विलासिता समझे, लेकिन उसे यह जगह अच्छी नहीं लगती। थोड़ा बहुत परिवर्तन होना बहुत जरूरी है। पर कहाँ जाय ?

कई दिनों के बाद एकाएक चन्दा का पत्र मिलने पर उसने जाने की जगह ठीक कर ली। बहुत दिनों के बाद चन्दा ने पत्र लिखा था। उसने जानना चाहा है कि निरंजन उसे पत्र क्यों नहीं लिखता ? चन्दा निरंजन से प्रेम करती थी।

वह भी चन्दा से प्रेम करता था। निरंजन सोचने लगा--वह उत्साह, वे स्वप्न अब नहीं हैं। वे दिन बीत गये, जब गरीब युवक सबका ईर्ष्या-भाजन हो कर धनी बाप की बेटी चन्दा का घनिष्ट मित्र हो गया था और उसने चन्दा का प्रेम भी पाया था। एक साल पहले का निरंजन अब बिलकुल बदल गया है। पर सन्देह भी होता है। अपने ही मन की खबर मनुष्य कितनी जानता है ?

चन्दा ने लखनऊ से पत्र लिखा था। उसके चाचा, जो हाल ही में

सरकारी नौकरी से रिटायर हुए हैं, चन्दा के साथ कुछ दिनों के लिये जलवायु बदलने राजगृह जा रहे हैं। काफी अरसे से उनलोगों की मुलाकात नहीं हुई है। चन्दा दुःखी है। इस कारण उसने निरंजन को राजगृह आने के लिये लिखा है।

पत्र पढ़ कर निरंजन हँसा। उसने सोचा, दरिद्र-प्रेमी को 'राज-कुमारी' भूली नहीं है। अच्छा ही हूँ।

बड़े दिनों की छुट्टी में उसने राजगृह जाना तय किया।

सुबह के वक्त जाते समय मा की व्यस्तता देख कर उसका मन करुणा से भर गया। मा ने कहा—'वहां बहुत जाड़ा पड़ता है। बच कर रहना। ठहरो, सफर में खाने के लिये कुछ चीजें बांध दूं! पहुँचते ही चिट्ठी डाल देना। समझे।'

निरंजन एकटक उनकी देखने लगा। मा अब शायद ज्यादा दिनों की मेहमान नहीं हैं।

पिता उसी वक्त घूम कर लौटे थे। उसे तैयार देख कर बोले—'ट्रेन का वक्त हो गया? जाओ, घूम-फिर कर आओ। अच्छी जगह है। कब लौटोगे?'

'आठ-दस दिन बाद।'

छोटी बहन लिली बोली—'कुछ दिन बाद जाते भैया, तो मेरे हाथ का बुना हुआ स्वेटर पहन जाते।'

'अभी और कितना बाकी है?'

'कम-से-कम दो तीन दिन तो लग ही जायेंगे।'

'कोई बात नहीं, आ कर पहनूँगा।'

छोटा भाई लल्लू भी एक तरफ आ कर खड़ा हो गया।

निरंजन ने पाकिट से एक दुअन्नी निकाल कर उसके हाथ पर रख दी। लल्लू का चेहरा खुशी से चमक उठा।

खाने की पोटली देते हुए मा ने धीरे-धीरे कहा—'कुछ दिनों के बाद इन्हें भी राजगृह भेज दूँगी। तुम तो देख ही रहे हो, दिन-प्रतिदिन इनका शरीर खराब होता जा रहा है और दिन-रात बैठे-बैठे न जाने क्या सोचते रहते हैं ?'

निरंजन ने फीकी हँसी के साथ कहा—'और तुम मा ?'

मा हँसी—'अब मेरा फिक्र छोड़ो। तुम लोग सुख से रहो। मैं और कुछ नहीं चाहती।'

रास्ते में चलते-चलते निरंजन की आँखों में आँसू आ गये। इस मिथ्या जीवन में माया-ममता का यह क्या बन्धन है। यह स्नेह, यह प्रेम क्या सत्य है ?

स्टेशन के नजदीक विकास से मुलाकात हुई। कल बम्बई जायगा और फिर वहाँ से लन्दन।

निरंजन ने हँस कर पूछा—'वहाँ पहुँच कर हमें भूल तो न जाओगे ?'

विकास ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया—'हर जगह, जहाँ भी जहाज ठहरेगा, वहाँ से पत्र भेजूँगा और लन्दन पहुँच कर हर हफ्ते। अरे दोस्त भला तुम्हें भूल सकता हूँ ?'

गाड़ी आने पर विकास ने विदा ली, निरंजन ट्रेन में सवार हो गया।

राजगृह पहुँच कर वह एक धर्मशाला में ठहरा। जलवायु बदलने के लिये आये हुए लोगों से धर्मशाला खचाखच भरी थी, और कोलाहल भी बहुत था।

शाम के वक्त कुण्ड के समीप पहाड़ पर वह घूमने गया। पहाड़ पर ऊपर पहुँचते ही नाटकीय ढंग से चन्दा से मुलाकात हो गयी। हाथ में एक किताब लिये चन्दा बैठी हुई थी। उसे देखते ही वह खड़ी हो गयी।

कुछ क्षण के लिये किसी के भी मुँह से एक शब्द न निकला, मानो यह नया परिचय हो रहा है। निष्पलक नेत्रों से वे एक दूसरे को देखते रहे।

कुछ देर पश्चात् चन्दा ने आगे बढ़ कर निःसंकोच भाव से उसका हाथ पकड़ कर कहा—'खैर, तुम आ तो गये। मैंने सोचा था कि जब तुम कभी-कदाच चिट्ठी भी नहीं लिखते तब क्या आओगे ? शायद बिल्कुल भूल गये। क्यों ?

निरंजन हँसा।

चन्दा ने हँस कर कहा—'अरे ! तो तुम भूले नहीं ?'

इतनी देर बाद निरंजन बोला—'गरीब लोग दाताओं को कभी नहीं भूलते।'

चन्दा हँस पड़ी—'तो तुम एकदम उपन्यास के हीरो की तरह बातें कर रहे हो ! मैं दाता ! क्यों ?'

'क्योंकि तुमने मुझे प्रेम दिया है, जो संसार में एकमात्र लोभनीय वस्तु है।'

'क्यों, क्या संसार में और कोई भी लोभनीय, सुन्दर वस्तु नहीं है ?'

निरंजन ने आकाश की तरफ देखते हुए उत्तर दिया—'शायद हो, पर मुझे तो और कोई भी चीज अच्छी नहीं लगती।'

उसे तीक्ष्ण दृष्टि से देखने के बाद चन्दा ने पूछा—'इतने दुबले क्यों नजर आते हो ? क्या बीमार थे ?'

'नहीं तो !'

चन्दा ने हाथ पकड़ कर उससे कहा—'चलो, उधर चल कर बैठें।'

निरंजन ने प्रश्न किया—'चाचाजी कैसे हैं ?'

'अच्छे हैं। थोड़ी देर बाद उनसे भी मिल लेना।'

'लेकिन तुम यहाँ अकेली ही आयी हो। तुम्हें डर नहीं लगता ?'

'क्यों, क्या लड़कियों को तुम पुरुषों से कम साहसी समझते हो ?'

दोनों आमने-सामने बैठ गये। चन्दा ने निरंजन का एक हाथ पकड़ लिया। चन्दा के गोरे और नरम हाथ के उष्ण स्पर्श से निरंजन के शरीर में पहले जैसी सिहरन नहीं हुई, खून तेजी से नहीं दौड़ा। वह सोचता रहा

अपूर्व सुन्दरी चन्दा और भी सुन्दर हो गयी है। देखते-देखते आँखें थक जाती हैं। उसकी गम्भीर दृष्टि मर्मस्पर्श करती है, रहस्यमय मालूम होती है।

निरंजन इस भेंट से प्रसन्न होने की कोशिश करने लगा, पर न हो सका। उसे ख्याल आने लगा——जीवन दुखःमय और अर्थहीन है, लेकिन यह प्रेम, यह चाहना, यह अस्फुट गद्गद भाषा, यह सब भी क्या मिथ्या है, अर्थहीन है ?

परम लोभी की तरह चन्दा उसे देख रही थी। दीर्घ-काय, गौरवर्ण निरंजन की बड़ी-बड़ी आँखों में एक गम्भीर विषाद की छाया थी। उसने प्रश्न किया——'बातें नहीं करते ?'

हँसने की व्यर्थ चेष्टा करते हुए निरंजन ने उत्तर दिया——'बातें करने के लिये कोई मसाला ही नहीं मिल रहा है।'

चन्दा ने हँस कर उसके हाथ को धीरे से दबाते हुए कहा——'तुम्हें कहीं नौकरी मिली ?'

'नहीं , अब-तक तो नहीं। लेकिन हाँ, एक कालेज में प्रोफेसर होने की आशा है।'

चन्दा कुछ देर तक चुप रही। फिर कुछ संकोच के साथ सिर नीचा किये बोली——'मेरी शादी के लिये चाचाजी बहुत कह रहे हैं——'

अन्यमनस्क भाव से निरंजन ने पूछा——'क्यों ?'

चन्दा जवाब न दे सकी। एकाएक निरंजन ने पूछा——'लखनऊ जा कर तुम विश्वविद्यालय में दाखिल क्यों नहीं हुई।'

'मेरी इच्छा नहीं हुई।"

निरंजन चुप रहा। चन्दा ने कई बार न जाने क्या बात कहने की कोशिश की, पर कह न सकी। अन्त में उसका हाथ छोड़ कर वह खड़ी हो गयी। उसने कहा——'चलो, घर चलें।'

'अच्छा चलो।'

एक कम्बल से पैर ढँके चन्दा के चाचा गोपाल बाबू सामने बैठे हुए सताईस-अठाईस साल के एक युवक से बातें कर रहे थे। युवक की आँखों पर चश्मा, गेहुँआँ रंग, वेष-भूषा से रईस लगता था। चन्दा को देखते ही युवक की आँखें चमक उठीं। लेकिन निरंजन को पीछे देख कर कुछ हिचकिचाते हुए चन्दा से उसने कहा—'आइये, आइये।'

चाचा के निकट जा कर चन्दा बोली—'निरंजन को जानते हो न चाचा।'

गोपाल बाबू ने निरंजन की ओर देखा। निरंजन ने उनके पैर छुए।

वृद्ध उत्साहित हो उठे। बोले—'अरे निरंजन! हाँ, हाँ, जानता क्यों नहीं? आओ बटा, बैठो।'

निरंजन बैठ गया।

चन्दा ने निरंजन से कहा—'तुमसे कहना भूल गयी थी। आप हमारे साथ आठ-दस दिन घूमने के लिये आये हैं। आप मजिस्ट्रेट के लड़के हैं—मि० प्रभात कुमार पाण्डेय और ये निरंजन उपाध्याय एम० ए० हैं।'

निरंजन नमस्कार कर मन ही मन हँसा। यह व्यक्ति उसके प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी है, उसकी दृष्टि से ही वह यह समझ गया था; परन्तु उसे यह जान कर जरा भी ईर्ष्या नहीं हुई, दुःख भी नहीं हुआ।

गोपाल बाबू बोले—'सब अच्छी तरह है न?'

'जी हाँ।'

'आज-कल क्या कर रहे हो?'

'अभी तो कुछ नहीं, लेकिन हाँ, एक नौकरी की आशा है।'

'कैसी नौकरी?'

'प्रोफेसरी!'

'बहुत ठीक, बहुत ठीक। यहाँ क्या धर्मशाला में ठहरे हो? कुछ दिन रहोगे न?'

'हाँ, कुछ दिन रहने का विचार तो है ।'

'तो फिर यहीं क्यों नहीं चले आते ?'

चन्दा हँसी । प्रभात के चेहरे पर अन्धेरा छा गया ।

'जी, यह तो ठीक है । पर वहाँ कोई कष्ट नहीं है ।'

चन्दा बोली--'आप लोग बातें कीजिये । मैं इतने में चाय बना लाती हूँ ।'

चन्दा अन्दर चली गयी । गोपाल बाबू ने प्रभात की ओर देखते हुए कहा--'जानते हो प्रभात, निरंजन एक रत्न है ! इसी साल अङ्गरेजी में फर्स्ट क्लास फर्स्ट हुआ है ।'

प्रभात ने जरा मुस्कुराते हुए कहा--'यह जान कर बहुत खुशी हुई, मिस्टर निरंजन ।'

'धन्यवाद ।'

कुछ देर बाद नौकर के हाथ में चाय और मिठाई लिये चन्दा ने प्रवेश किया ।

प्रभात ने प्रश्न किया--'आप किधर घूमने गयीं थीं, चन्दा देवी ?

कप में चाय डालते-डालते चन्दा ने जवाब दिया--'मुझे दुःख है प्रभात बाबू ! आप के साथ घूमने जाने की बात थी, लेकिन अचानक इच्छा हुई कि कुण्ड की तरफ अकेली ही घूमने जाऊँ और चल दी । वहीं पहाड़ पर निरंजन से भेंट हो गयी ।'

गोपाल बाबू हँस पड़े, कहा--'तो तुम लोगों की भेंट उपन्यास के नायक और नायिका की तरह हुई है ।'

निरंजन और चन्दा ने भी इस हँसी में साथ दिया । पर प्रभात का चेहरा क्रमशः गम्भीर होने लगा । हँसी बन्द होने के बाद सूखी-सी आवाज में उसने कहा--'लेकिन चन्दा देवी, अकेली घूमना ठीक नहीं । क्या मालूम यहाँ कैसे-कैसे लोग हैं ?'

चन्दा ने कोई जवाब नहीं दिया ।

साधारण बात-चीत के बाद कमरे में फिर शान्ति छा गयी। गोपाल बाबू के बीमार चेहरे पर छायी हुई असंख्य रेखाओं को निरंजन गिनने लगा, मानों इन रेखाओं के पीछे का अतीत उसके पिता के अतीत की तरह व्यर्थ नहीं था। केवल यही अन्तर है। पर यह अन्तर भी मानों आकाश-पाताल जैसा है। सुख और दुःख। लेकिन दुःख-सुख की बातें सोचने से क्या लाभ ?

उस शांति को भंग करते हुए चन्दा ने कहा—'चाचा जी, आप यह न भूले होंगे कि निरंजन संगीत भी बहुत अच्छा जानता है।'

गोपाल बाबू समझे नहीं।

'मैं सितार के लिये कह रही हूँ।'

वृद्ध को याद आया कि निरंजन बहुत अच्छा सितार बजाता है। उत्साह से सिर हिला कर उन्होंने कहा—'हाँ, हाँ, याद आया। तुम अपना सितार लायी हो न ? जरा उठा तो लाओ।'

निरंजन एकाएक उठ कर खड़ा हो गया—'आज नहीं चाचाजी, और किसी दिन आप को सुनाऊँगा। आज शरीर बहुत थका हुआ है। क्षमा करें।'

'हाँ, हाँ, इसमें कौन-सी बात है। फिर कभी सुनेंगे।'

कुछ देर बाद उसने विदा ली। फाटक तक चन्दा पहुँचाने गयी। वहाँ उसने धीमे स्वर में कहा—'लेकिन मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ।'

निरंजन चौंका। कौन किसके लिये मूर्ख की तरह प्रतीक्षा कर रहा है ? चन्द्रमा की पीली रोशनी में चन्दा के दीप्त नयन उसे बहुत अच्छे लगे। चुपचाप चन्दा का एक हाथ खींच कर वह हँसा। चन्दा को यह बता देने की इच्छा हुई कि उसके लिये जीवन नीरस और अर्थहीन हो गया है। ऐसा लगता है कि प्रेम भी अर्थहीन है।

लेकिन चन्दा क्या यह सब समझेगी ? इसलिये उसने कुछ नहीं कहा और चुपचाप चला गया।

बिछौने पर लेटे-लेटे आधी रात को उसने खिड़की से आकाश की तरफ देखा। चन्द्रमा के प्रकाश से प्लावित प्रशस्त नीलाकाश है। दूर के पेड़ों पर के शिशिर-सिक्त पत्तों पर चन्द्रमा का प्रकाश चांदी के पानी की तरह चमक रहा है। आकाश और पृथ्वी मानों संकेत से बातचीत कर रहे हैं। वह उठ बैठा, उसे इस समय बहुत अच्छा लग रहा था, जीवित रहने की इच्छा होती थी। उसने अपने मन में कहा--'कौन कहता है कि यह जीवन अर्थ-हीन है ?' चन्दा की याद आते ही खुशी से मन नाच उठा। यही तो जीवन है। जीवन रहस्यमय जरूर है, लेकिन अर्थहीन नहीं है। पराजय होने पर ग्लानि क्यों, दुःख से वितृष्णा क्यों, निराशा से सन्देह क्यों ? जीवित रहना चाहिये, ग्रहण करना चाहिये, भोग करना चाहिये। आकाश की ओर दोनों हाथ उठा कर उसने शक्ति के लिये प्रार्थना की। ईश्वर से नहीं, क्योंकि वह नास्तिक है।

कई दिन बहुत मजे में कटे। सब एक साथ नालन्दा के खण्डहर आदि भी देख आये। आनन्द और कोलाहल में दिन बीत रहे थे।

उस दिन वे सब उदयगिरि की तरफ घूमने गये। शाम हो रही थी। पश्चिम के आकाश के मेघों में जैसे आग लग गई हो। प्रभात ने सोचा कि मन के भाव व्यक्त करने का यही उपयुक्त समय है। लेकिन निरंजन और गोपाल बाबू की उपस्थिति के कारण मौका नहीं मिलता था। वह कोई तरकीब सोचने लगा।

कुछ देर बाद गोपाल बाबू प्रभात के मन का भाव ताड़ गये। इसलिये जब प्रभात ने चन्दा से कहा--'चलिये चन्दा देवी, हम लोग इस मन्दिर के ऊपर वाले पहाड़ पर घूम आयें,' तब उन्होंने कहा--'जाओ बेटी जाओ, मैं यहां बैठ कर निरंजन से बातें करूँगा--बुड्ढा हूँ, चलते-चलते थक गया हूँ।'

चन्दा ने निरंजन की तरफ देखा। सिर हिला कर निरंजन जरा हँसा। वह प्रभात के साथ आगे बढ़ गई। जब वे नजर से ओझल हो गये,

तब गोपाल बाबू एक पत्थर पर बैठ गये। बोले--'निरंजन, प्रभात बहुत अच्छा लड़का है, उसका दिल बहुत साफ है।'

निरंजन ने सिर हिलाकर कहा--'जी हां।'

उत्साहित हो कर गोपाल बाबू ने कहा--'हां, जैसा उसका दिल साफ है, वैसे ही उसमें गुण भी बहुत हैं। सोचता हूँ, चन्दा का विवाह उसके साथ कर दूँ। ठीक होगा न?'

'जी हां,'--निरंजन ने कहा। लेकिन आज अचानक वह ईर्ष्या से जलने लगा। उसने मन ही मन सोचा--चन्दा तो एकमात्र उसकी ही है, वह और किसी की भी नहीं हो सकती। वह होने भी नहीं देगा?

प्रभात ने कहा--'चन्दा, अब मुझसे एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता।'

'क्या?'

'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, शायद यह तुम जानती हो।'

कुहासे से ढँके हुए पहाड़ की चोटी की ओर देखते हुए चन्दा ने जवाब दिया--'हां, यह मालूम है। पर मैं तो आपसे प्रेम नहीं करती, सिर्फ श्रद्धा ही करती हूँ।'

वायुमण्डल को कँपा कर सन्ध्या के आकाश को भेदता हुआ पक्षियों का झुण्ड नये प्रभात की ओर उड़ा चला जा रहा था।

रात को निरंजन ने चन्दा के यहां ही भोजन किया। एक बार अनिच्छा प्रगट करते ही चन्दा की आंखों में आंसू छलछला आये थे। लेकिन प्रभात बिल्कुल नहीं खा सका। भोजन समाप्त होते ही चन्दा ने एकाएक कहा--'चाचा जी, आज निरंजन को सङ्गीत सुनाना ही होगा। क्यों, क्या राय है?'

निरंजन ने एतराज किया--'नहीं, नहीं,--आज--।' पर तब तक चन्दा सितार लेने चली गयी थी। गोपाल बाबू हँसे।

प्रभात एक किताब के पन्ने उलटने में मग्न था। चन्दा सितार ले आयी। उसने कहा—'यह लो ! सब तार ठीक हैं। बजाओ।'

बाहर कुहासा और चांद की रोशनी थी, अस्पष्ट पहाड़ों की रेखायें खिड़की से नजर आती थीं। जीवन में इतना आनन्द, इतना सौंदर्य ! मूर्त्तिमती अग्निशिखा की तरह चन्दा की काली आंखों की गम्भीर और मर्मस्पर्शी दृष्टि से दृष्टि मिला कर उसने सितार के तार छुए। विचित्र झंकार में मानों सितार ने कहा—'यह पृथ्वी सुन्दर है, रहस्यमय है, यह जीवन विचित्र है, अपूर्ण है, जिन्दा रहने में सुख है, लाभ है।'

दूसरे दिन वे सब बान-गंगा देखने गये। लेकिन प्रभात नहीं गया। दस बजे के लगभग वे लोग लौटे। यह तय था कि दोपहर की गाड़ी से गोपाल बाबू नालन्दा जायेंगे। वहां के जमींदार से उनका परिचय है, उन्होंने दावत दी है। रात को लौट आवेंगे।

लौटते वक्त चन्दा ने चुपके से निरंजन से कहा—'आज शाम को जल्दी आना। समझे ?'

निरंजन ने सिर हिला दिया।

धर्मशाला में लौट कर, वह भोजन कर सो गया। जब उसकी नींद खुली तब शाम होने को थी। जल्दी से उठ कर उसने मुँह-हाथ धोये और कपड़े पहन कर बाहर चल दिया। चन्दा उसकी राह देख रही होगी। मन की खुशी ने पैरों की चाल बढ़ा दी। सीटी बजाता हुआ वह चलने लगा।

रास्ते में एक ओर बहुत-सी तितलियां बैठी हुई थीं, कुछ इधर-उधर उड़ भी रही थीं। एक बड़ी तितली को पकड़ने की उसने कोशिश की, पर वह पकड़ न सका। मन ही मन वह हँस कर फिर चलने लगा।

एक गांव वाला पत्थर पर बैठा हुआ बिरहा गा रहा था—'बेणी में जुही के फूल लगाये हैं, लाल धोती पहनी है और पैरों में मेंहदी लगायी है,

प्रदीप जला कर शुभ्रशय्या पर तुम्हारी प्रतीक्षा में व्यग्र नयनों से बैठी हूँ—— रात बीत रही है, चन्द्रमा भी धीरे-धीरे बादलों में छिपता जा रहा है; हाय हरजाई ! तुम अब भी नहीं आये ।'

गाने की लहर ने निरंजन के मन में चञ्चलता ला दी, आंखों में चमक आ गई । वह सोचने लगा——आज सिर्फ वह और चन्दा होंगे । आज उसे बहुत अच्छा लग रहा है । रूप, रस और गन्ध से अनुपम यह पृथ्वी है, मानों स्वप्न की तरह । यह जीवन सुन्दर है——अद्भुत । निरंजन तेजी से चलने लगा ।

प्रभात बाहर खड़ा सिगरेट पी रहा था । ईर्ष्यालु दृष्टि से उसने एक बार निरंजन को देखा । निरंजन सीधा भीतर घुस गया और पुकारा—— 'चन्दा !'

रसोई में रसोइये को कुछ समझा कर चन्दा बाहर निकली ।

'आ गये ! खूब सोये थे न ? मैं भी खूब सोयी ।'

चन्दा का हाथ पकड़ कर निरंजन बोला——'चलो चन्दा, देर मत करो ।'

'अरे भाई तुम कैसे आदमी हो ! स्वेटर तो पहन लूं । जाड़ा नहीं लगेगा ?' निरंजन ने हाथ छोड़ते हुए कहा——'अच्छा, तो जल्दी पहनो । ख्याल रहे, सिर्फ दो मिनिट ।'

चन्दा खिलखिला कर हँस पड़ी ।

एक ऊँचे और एकांत पहाड़ पर जा कर चन्दा एक जगह बैठ गई । उसने कहा——'ओफ ! अब नहीं चला जाता । तुम तो जैसे दौड़ रहे हो ।'

निरंजन भी बैठ गया । आकाश में सुनहरे रंग के बादल छाये थे ।

'इस तरह मुझे क्या देख रहे हो ?' चन्दा ने प्रश्न किया ।

'तुम्हारा सौन्दर्य ।'

चन्दा शरमा गयी, गाल लाल हो गये । उसने कहा——'ऐसी बातें करोगे तो मैं चली जाऊँगी ।'

'चली जाओगी ? अच्छा, अब मैं और कुछ नहीं कहूँगा।'

शाम हो गई। अन्धकार क्रमशः बढ़ने लगा।

चन्दा ने पुकारा—'निरंजन !'

'हूँ।'

'तुम मुझे चाहते हो ?'

'हां, तुमसे प्रेम करता हूँ।'

'तुम कांप क्यों रहे हो ?' विस्मय से चन्दा ने पूछा।

'जीवन में इतना आनन्द मैंने आज तक नहीं पाया। जीवन में इतना आनन्द और उल्लास है, यह मैं नहीं जानता था।'

चन्दा के शरीर ने, केशों की गन्ध ने, उसकी मादक आंखों ने तथा उसके कम्पित स्वर ने मानों नशा ला दिया था, अभिभूत कर दिया था।

अचानक, न जाने कहां से एकाएक सड़ी हुई दुर्गन्ध आयी। ऐसा लगा कि चन्दा के शरीर से ही आ रही हो, पर दूसरे ही क्षण मालूम हो गया कि यह भूल है। भूल मालूम होते ही वह सिहर उठा। उसे हजारीलाल की सड़ी-गली देह की नारकीय दुर्गन्ध की याद आ गयी। वह सोचने लगा—हजारीलाल ने क्यों आत्महत्या की थी। उसके पास तो सब-कुछ था। जीवन अर्थहीन है, इसलिये ? चन्दा की यह सुन्दर कोमल देह, उन्नत स्तन युगल, गम्भीर आँखें और रक्तिम होंठ अगर सड़ जायें तो ? तब कैसी वीभत्स लगेगी। यह जीवन अर्थहीन है और शरीर इससे भी ज्यादा अर्थहीन है। वह इस बात को क्यों भूल गया ? गद्‌गद भाषा के आवेग में प्रेम निवेदन कर क्या हास्यमय प्रेम का ही अभिनय नहीं किया है ?

निरंजन को एकाएक उठते देख कर चन्दा ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—'क्या हुआ ?' कहां चले ?'

गले और सड़े मांस की बदबू से उसकी नाक फटी जा रही थी। उसने कहा—'चन्दा, आओ अब घर चलें।'

'इतनी जल्दी ?'

'हाँ, चलो ।'

निरंजन के इस व्यवहार से चन्दा को दुःख पहुँचा। लेकिन बिना कुछ कहे वह उठ खड़ी हुई ।

चन्द्रालोकित आकाश में अनन्त नक्षत्रों का विवर्ण विकास था। क्षण भर में सुन्दर पृथ्वी कुत्सित हो गयी ।

रास्ते भर निरंजन चुप रहा । चन्दा के मकान के निकट पहुँच कर उसने कहा—'अब तुम घर जाओ चन्दा, मैं जाता हूँ ।'

चन्दा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—'एकाएक तुम्हें क्या हो गया, बताओ न ?'

'कुछ भी तो नहीं ।'

'नहीं तुम जरूर बात छिपा रहे हो ।'

'नहीं चन्दा, ऐसी कोई बात नहीं है ।'

'तो चलो, चाचाजी से मिल कर जाना ।'

'नहीं, तबियत खराब हो रही है ।'

'मुझसे नाराज हो गये ?'

'नहीं ।'

'तब फिर ?'

'वह तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता, चन्दा ।'

क्रुद्ध भाव से निरंजन का हाथ छोड़ कर चन्दा हट गयी। उसके धैर्य का बाँध टूट चुका था। क्रोध में उसने कहा—'नहीं बताओगे ? मत बताओ। मैं कुछ भी नहीं समझती, मैं छोटी बच्ची हूँ न ? बहुत अच्छा, तो तुम जाओ—जाओ—जरूर जाओ ।'—यह कहते हुए मुँह में रुमाल दबा कर, आँसुओं को रोकती हुई वह तेजी से मकान में घुस गयी ।

निरंजन का सिर चकरा रहा था। एक बार उसने चन्दा को पुकारने की कोशिश की, पर गले से आवाज ही नहीं निकली। चन्दा जिस तरफ गयी थी, उधर उदास दृष्टि से देखते हुए वह कुछ हँसा—फीकी हँसी ।

उसने अपने मन ही मन कहा--हाय अन्धी लड़की, अगर मैं अपने मन की बात तुम्हें बताऊँ तो तुम सिर्फ हँसोगी, मजाक उड़ाओगी, उसकी यन्त्रणा को तुम नहीं समझोगी। नहीं, कल सुबह ही वह अपने घर चला जायगा।

इस प्रकार सोचता-विचारता वह अपने स्थान में जा कर पड़ रहा। सारी रात वह कमरे में छटपटाता रहा, जरा भी नींद नहीं आयी। उसका मस्तिष्क उत्तप्त हो रहा था और आँखें लाल। बाहर सारा संसार मृतक की तरह पड़ा था। वह सोचने लगा--रहस्य का पता कब चलेगा ? उसे जीवन का अर्थ कैसे मिलेगा ? सत्य क्या है ?

स्टेशन जाते समय अन्धकार में चन्दा का मकान नजर आया। उसने अपने मन में सोचा, चन्दा जरूर सो रही होगी। देखें, अब फिर कब मुलाकात होगी। मूर्ख, अब मुलाकात नहीं होगी।

ग्यारह बजे वह घर पहुंचा।

पिताजी दफ्तर गये थे, मा कुछ सिलाई का काम कर रही थीं। उसे देखकर चकित हो गयीं। उन्होंने पूछा--'अरे, तू इतनी जल्दी कैसे लौट आया ?

'मेरा वहाँ मन नहीं लगा, मा।'

'मुंह ऐसा सूखा-सूखा क्यों हो रहा है ?'

'रेल की थकान की वजह से ऐसा हो गया होगा।'

'जाओ, नहा-धो लो।'

छोटा भाई लल्लू आज चार दिन से बीमार पड़ा था। निरंजन कुछ देर तक उसके सिरहाने बैठा रहा। बड़े भैया को बैठा देख कर लल्लू कृतज्ञता से हँसा।

भोजन के समय मां ने अनुरोध किया--'बेटा, ये चार पतली-पतली रोटियाँ ही तो हैं।'

'नहीं मा।'

'बेटा बिना खाये कितने दिन चल सकता है ?' मां की आवाज कुछ

काँप गयी। क्षण भर बाद उन्होंने फिर कहा—'लिली ने तुम्हारा स्वेटर बुन लिया है। पहन कर देखना।'

'अच्छा।'

'तेरी एक चिट्ठी आयी है।'

'कहाँ से आयी है?'

'खोली तो नहीं।'

खाने के बाद उसने चिट्ठी खोली। बम्बई से विकास ने भेजी थी। बिना पढ़े ही उसने फाड़ कर फेंक दी। पढ़ने से क्या लाभ? चन्दा को पत्र लिखने की याद आते ही वह हँसा। उसने सोचा, पत्र लिखना बेकार है। स्नेह, माया, ममता, प्रेम—ये सब बन्धन हैं। बन्धन ही भ्रान्ति की सृष्टि करते हैं। मुक्ति चाहिये।

नींद आ रही थी, पर वह सो नहीं पाता था। उसने स्थिर किया—आज रात को बारह बजे के बाद वह इस अर्थहीन जीवन का अन्त कर देगा। धीरे-धीरे समय बीत रहा था।

शाम हुई। पिताजी आफिस से लौट कर आये। निरंजन को देखते-ही उन्होंने पूछा—'कब आये?'

'दोपहर को ग्यारह बजे।'

खाँसते-खाँसते पिताजी अन्दर चले गये। उनकी तबियत ठीक नहीं थी।

उसके पास दो रुपये बचे थे। उन्हें ही ले कर निरंजन बाहर चला गया। जिधर भी वह देखता, उसे यही लगता कि सब आदमी मृत हैं, यन्त्र की तरह हैं। शहर के धूल भरे आकाश में, अस्ताचलगामी सूर्य के म्लान प्रकाश में मानों मृत्यु का संकेत है।

घर लौट कर वह अंधेरे ही में अपने कमरे में सो गया।

मा ने पुकारा—'निरंजन!'

'हाँ।'

'खाना खा लो।'

'मां, मैं नहीं खाऊँगा-- सिर में दर्द है।'

'अरे बाबा, कब दर्द हुआ ? लल्लू तो पहले से ही बीमार है। तुझे बुखार तो नहीं है।'

'नहीं मा, मुझे बुखार नहीं है।'

'देखूं।'

मां ने आगे बढ़ कर बेटे का माथा छुआ, कहा--'हाँ, शरीर तो गरम नहीं है। खैर मत खाओ--सावधान रहना अच्छा है।'

नाक पर चश्मा लगाये पिताजी आफिस के कागज-पत्र देख रहे थे।

सबसे छोटा भाई नींद टूट जाने की वजह से रो रहा था और लिली उसे चुप कराने की कोशिश कर रही थी।

सोने के लिये जाते वक्त मा ने दरवाजे के सामने खड़े हो कर पुकारा--'निरंजन !'

'हाँ।'

'सो गये ?'

'नहीं मा।'

'सिर दर्द कैसा है ?'

'हाँ, कुछ कम हुआ है।'

'मैं सिर दबा दूं ?'

'नहीं मां, इसकी कोई जरूरत नहीं।'

तो भी मा अन्दर आयी और कई बार उसके शरीर पर हाथ फेर कर चली गयी। मा का यह स्नेह उसे बहुत अच्छा लगा।

रात बढ़ने लगी।

वह बैठा हुआ प्रतीक्षा करता रहा।

पूर्णिमा के प्रकाश से आलोकित पृथ्वी मानो मृतक की तरह पड़ी थी। वक्त हो गया था। बहन का बनाया हुआ स्वेटर वह पहने हुए था।

गिर्जा की घड़ी में बारह बजे। मकान में सब सो रहे थे। ऐसा लगता था, अदृश्य में उसे कोई देख रहा है, आकर्षित कर रहा है, । वह चुपचाप बाहर निकला। हवा में सड़े हुए मांस की बदबू थी।

रेल लाइन पार कर, निर्जन वन पथ पर चलते हुए उसने शाम को खरीदी हुई अफीम की तीनों गोलियाँ खा लीं।

घने जंगल को चीरता हुआ, बबूल के काँटों से घायल होता हुआ वह नदी की ओर बढ़ता चला जा रहा था। कुछ देर बाद पाकस्थली में अफीम की क्रिया शुरू हो गयी। असंख्य बिच्छुओं के डंक मारने जैसी यन्त्रणा प्रारम्भ हुई, सिर घूमने लगा, पेट और कमर में जोरों का दर्द होने लगा, दृष्टि धुंधली हो गयी और लार टपक चली।

और जरा, हाँ, और जरा। इसके बाद ही जीवन के गुप्त प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। जीवन के चारों ओर यन्त्रणामय रहस्य को वह जान लेगा, जीवन का अर्थ वह खोज निकालेगा।

सड़े और गले हुए मांस की तेज बदबू आ रही थी।

निरंजन पानी में उतरने लगा। धीरे-धीरे अचानक वह अथाह जल में पहुँच गया। क्षण भर बाद ही चेतना भी लोप सी हो गयी। पर एक मुहूर्त्त में न जाने क्या हो गया ? पिता, मां, भाई-बहन, चन्दा, विकास ---सबकी याद आयी---जिन्दा रहने की इच्छा हुई,---जबरदस्त इच्छा। अवश अंगों से एक बार पानी को हटा कर पृथ्वी की रोशनी और हवा ग्रहण कर जिन्दा रहने की उसने कोशिश की- -बाहर आना चाहा, पर दोनों निस्तेज बाहु और भी शिथिल हो कर झूलने लगे।

वह ऊपर नहीं आ सका।

---०---

डाक्टर की पत्नी

श्मशान घाट !

क्रिया-कर्म खतम होते सुबह से शाम हो गयी। नाते-रिश्तेदार और मित्रों ने भस्मावशेष पर एक-एक कलसी जल डाला। 'राम नाम सत्य है' की पुकार करते हुए उस पूर्णतः वैराग्य-जनक स्थान से वे सब लोग सड़क पर आ गये और सबने आराम की एक सांस छोड़ी।

घाट पर रह गयी सिर्फ आज की विधवा डाक्टर-पत्नी विमला। डा० संतोष अब नहीं हैं। निष्ठुर चिता की लपटों ने उनके सुन्दर शरीर को एकदम भस्म कर दिया है। मानो विमला का मन इस कठोर सत्य को किसी प्रकार नहीं मान पा रहा था। घाट के एक कोने पर वृद्धा मौसी की गोद में मुँह छिपाये, रोते हुए वह अपने इतने बड़े दुःख का भार जितना हल्का करने की कोशिश कर रही थी, उतनी ही मृत पति के अपरिमित प्रेम की स्मृति सुहाग-भरे दृश्यों में आ कर उसके मन को दुःख पहुँचा रही थी, और आँसुओं को बढ़ावा दे रही थी।

लेकिन सधवा जीवन की असंख्य पुरानी स्मृतियों में जो विशेष घटना सबसे ज्यादा प्रमुख हो कर, अत्यधिक ज्वलन्त रूप से उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर रही थी, वह थी उसके पैर फिसलने की स्मृति।

एक दिन उसने अपने देवता-तुल्य पति को नहीं पहचाना था। वह भ्रष्टा होने जा रही थी। उसकी ऐसी सर्वनाशी मति क्यों हुई थी ?

लेकिन उसनें इसका प्रायश्चित भी कर लिया। जिस दिन उसे अपनी

यह भूल मालूम हुई, उस दिन से ही पति-सेवा में, प्रेम और भक्ति में, उसने शायद सीता-सावित्री को भी मात दे दी थी।

जब डा० संतोष के साथ विमला की शादी हुई, तब उसके मन में बहुत-सी इच्छाएँ, आशाएँ और उमंगें थीं। लेकिन सुहागरात की सिर्फ एक घटना ने ही उसकी सब आशाओं को मरीचिका की तरह झूठा साबित कर दिया।

उस वक्त रात का एक बजा था। सब मेहमान विदा हो चुके थे। अन्त में दुल्हा और दुलहिन अपने निर्दिष्ट कमरे में फूलों की सेज पर मिले। वधू प्रतीक्षा में और वर अन्यमनस्क।

बातचीत शुरू हुई। पर यह बातचीत प्रेमालाप में परिणत होने से पहले ही डा० संतोष शय्या से एकाएक उठ खड़े हुए। बिना कुछ कहे-सुने एक लंबा-सा काला पर्दा हटाते हुए वे बगल वाले एक कमरे में घुस गये।

दस मिनट तक अधीरता के साथ प्रतीक्षा करने के बाद विमला भी उठी और दबे पैरों से पर्दे को जरा हटाते ही उसने एक विचित्र दृश्य देखा। छोटा-सा कमरा है। एक कोने में दीवार से लगा हुआ एक दीर्घ, कुत्सित नरकंकाल खड़ा है। उसके अस्थि-पंजर पर बिजली की धीमी रोशनी पड़ने की वजह से वह कंकाल मानो प्रेत से भी ज्यादा भयानक और भद्दा लग रहा था। वह सिहर उठी। लेकिन अपने को कुछ संभाल कर उसने और भी देखा कि उस कंकाल के सामने एक छोटे से स्टूल पर उसके पति डा० संतोष बैठे हैं, और हाथ में एक फीता ले कर बहुत ध्यानपूर्वक न जाने क्या सोच रहे हैं। पास ही जमीन पर एक मोटी-सी किताब खुली हुई रक्खी है। पर्दा खींच कर विमला चुपचाप सेज पर आ बैठी।

प्रथम मिलन की रात में युवती नवबधू को छोड़ कर कुत्सिस नर-कंकाल की आराधना !

कुछ देर बाद डा० संतोष भी लौट आये और अपराध-स्वीकार के स्वर में बोले, 'मैं एक नये एक्सपैरिमेंट में लगा हुआ हूँ। उसी सम्बन्ध में एकाएक एक नयी बात याद आते ही उसे मिलाने चला गया था।'

लेकिन विमला अठारह साल की थी। बुद्धि भी उम्र के अनुसार होती है। उसके मन में यह बात जम गयी कि इस नवीन, उत्साह-शील और साहसी डाक्टर के लिये डाक्टरी विद्या ही सब कुछ है। और वह-विमला सिर्फ कभी-कभी मनबहलाव के लिये ही है।

एक वर्ष बीत गया !

चिकित्सा-शास्त्र में एक नयी थीसिस के जन्मदाता के रूप में डा० संतोष का नाम चारों ओर फैल गया। यश, नाम और नये आविष्कार के नशे ने उन्हें क्रमशः विमला से और दूर ही कर दिया। और विमला के मन में सुहागरात का वह अप्रिय बीज धीरे-धीरे बढ़ कर एक बहुत बड़ा वृक्ष हो गया।

इस एकाकीपन और अशान्ति में राजेन्द्र ही विमला का एकमात्र सहारा था। राजेन्द्र--डा० संतोष का बचपन का साथी था। धनी बाप का बेटा था। इसलिये चौबीसों घंटे उसे फुर्सत-ही-फुर्सत थी। इस वक्त को वह प्रायः साहित्य-चर्चा और पर-चर्चा में ही बिताता था।

विमला को यह दुबला-पतला सुन्दर युवक पसन्द था। क्रमशः वह वक्त भी आया जब विमला को इस अच्छे लगने की स्वीकृति जागते हुए न सही, स्वप्न में ही देनी पड़ती।

लेकिन अशान्ति में जलने पर भी विमला का मन दुराचार सहन नहीं कर सकता था। एक दिन सब संकोच, और द्विविधा दूर करके उसने स्पष्ट शब्दों में राजेन्द्र से अपने मकान पर आने के लिये मना कर ही दिया।

कुछ दिनों बाद डा० संतोष के पिता मर गये। मरने से पहले उन्होंने डाक्टर से वचन लिया कि वह गाँव में डाक्टरी करने के साथ-साथ

जमींदारी की भी पूरी देख-भाल करेगा; अपनी लापरवाही से जायदाद चौपट नहीं होने देगा।

श्राद्ध आदि हो चुकने के बाद डाक्टर गाँव चला आया। लेकिन वह बहुत जल्द ही घबरा उठा। महीने भर रहने के बाद ही उसने अनुभव किया कि जिस तरह बिना पानी के मछली जिन्दा नहीं रह सकती, उसी तरह डाक्टरी लेबोरेटरी में 'रिसर्च' और 'एक्सपेरीमेंट' किये बिना उसका ज्यादा दिन बचे रहना संभव नहीं है। लेकिन वह अपने पिता को दिये हुए वचन को तोड़ भी नहीं सकता था। विमला को गाँव की कोठी में छोड़ कर, वह शहर के एक होटल में रहने लगा। हफ्ते या दो हफ्ते में एकाध दिन के लिये आ कर वह अपनी पत्नी तथा पैतृक संपत्ति की देखभाल कर जाता।

इसके फलस्वरूप विमला के जीवन का अकेलापन और भी भयावह हो गया। ऐसे समय राजेन्द्र के पुनराविर्भाव। उसकी आकृति और भी सुकुमार हो गयी थी। विमला काँप उठी—भय से नहीं, क्रोध से नहीं, बल्कि एक गुप्त आनन्द से। अचानक उसे ख्याल आया कि इधर कुछ दिनों से उसके दिमाग में बराबर आत्महत्या का विचार उठ रहा था। नहीं। मरने से कुछ फायदा नहीं। उसका जीवित रहना या मरना एक विशेष व्यक्ति के लिये अर्थहीन होते हुए भी किसी दूसरे व्यक्ति के लिये बहुत कुछ अर्थ रखता है।

फिर भी, स्वागत में साहास्य न हो कर विमला ने रूखी और कड़ी आवाज में पूछा, 'यहाँ भी आ गये ?' राजेंद्र ने बे मतलब हँसते हुए जवाब दिया—'आऊँगा नहीं। यह तो मेरा भी गांव है।'

दूसरे दिन भी जब अनिमंत्रित राजेन्द्र ने आ कर विमला से चाय का तकाजा किया तो विमला ने अतिथि सत्कार में त्रुटि नहीं की।

अब राजेन्द्र की चर्चाओं में एक और चर्चा भी जुड़ गयी—प्रेमचर्चा।

पहले तो यह चर्चा बहुत ही एकांत में होती, लोगों की नजरों से दूर,

रोज के काम-काज से फुर्सत और मौका मिलने पर। लेकिन कुछ दिनों के बाद उन्होंने जान लिया कि डा० संतोष एम०बी०बी०एस०, डी० पी० एच, डी० टी० एम०, वात्स्यायन शास्त्र के अनुसार बिलकुल अनभिज्ञ हैं। उनके रहस्यालाप को वह प्रेमालाप समझकर कभी शक नहीं करेगा।

एक-एक करके लज्जा का बाँध, निंदा, डर और क्रमशः भय की बाधा भी दूर हो गयी। अन्त में पास-पड़ोस की कानाफूसी की छाती को दलते हुए राजेंद्र 'बेबी आस्टिन' चलाने लगा--विमला को अपनी बगल में बैठाकर।

गाँववालों ने यथासमय डा० संतोष के पास अपना दूत भेजा। डाक्टर ने उसे डाँट-डपट कर भगा दिया। कहा, 'एक मेरा मित्र है और दूसरी मेरी पत्नी है--उनका विश्वास नहीं करूँगा और तुम्हारा विश्वास करूँ। तुम तो गाँव के पेशेवर झूठे हो।' अपमानित हो कर दूत अपनी जेब से ट्रेन का किराया खर्च कर गाँव लौट आया।

एक दिन शाम को डा० संतोष के गाँव आने की बात थी। राजेंद्र और विमला घूमने गये थे और उन्होंने लौटने में काफी देर कर दी थी। ग्रांड ट्रंक रोड पर पैंतालीस मील प्रति घंटे के हिसाब से मोटर दौड़ रही थी।

एकाएक राजेन्द्र बोला, 'विमला अब ऐसे काम नहीं चल सकता।'

विमला भी शायद यही बात सोच रही थी। कहा, 'फिर तुम क्या चाहते हो ?'

'एक्सीलेटर' पर जरा और जोर दे कर राजेन्द्र बोला, 'डाक्टर को छोड़ दो।'

'स्पीडोमीटर' की सुई पैंतालीस के घर से झटका खा कर पचपन के घर में आ गयी।

'यह नहीं हो सकता'--विमला ने जवाब दिया।

'क्यों नहीं हो सकता ? हम लोग यह प्रांत छोड़ कर कहीं दूर चले

जायेंगे।'--यह कहने के साथ-साथ स्पीडोमीटर की सूई और भी कुछ सरक कर पैंसठ के घर में रुकी।

विमला ने सिर हिलाया--'नहीं, मेरी हिम्मत नहीं होती।'

'हिम्मत करनी ही होगी विमल, नहीं तो--'अपनी आवाज में कुछ और ज्यादा जोर लगा कर राजेन्द्र कुछ और भी कहने जा रहा था, लेकिन आवाज में जोर लाने के साथ-साथ 'स्टीयरिंग' पर भी खतरनाक दबाव पड़ा और मोटर एक झटके के साथ एक नाले में गिर पड़ी।

लोग इकट्ठे हो गये। विमला को बहुत कम, मामूली चोट आयी। लेकिन राजेंद्र को बहुत गहरी चोट लगी और वह बेहोश हो गया। तीन चार आदिमियों की मदद से विमला ने राजेंद्र को गांव के अस्पताल में पहुँचाया।

घाव की परीक्षा करने के बाद डाक्टर ने कहा, 'सिर में बहुत गहरी चोट आयी है। आपरेशन करने की जरूरत है। जब डा० संतोष यहां हैं तो उन्हें बुलाना ही ठीक होगा।'

पति को बुलाना होगा, प्रेमी को बचाने के लिये।

एक मिनिट सोच कर विमला ने अपने मकान पर खबर भेजी। कुछ देर बाद डा० संतोष अस्पताल में आ पहुँचे। विमला ने जैसी आशा की थी वैसा ही हुआ। सारी घटना सुनकर डाक्टर के मन में जरा भी संदेह नहीं हुआ।

लेकिन फिर भी विमला को अपनी रक्षा के लिये काफी अभिनय करना पड़ा। उसने बड़ी मुश्किल से अपने उमड़ते हुए अश्रुओं को रोक रखा। जरा भी अधीरता या बेचैनी नहीं दिखायी। एक साधारण घटना से मनुष्य का मन जितना विचलित होता है, राजेंद्र की इस भयंकर विपत्ति में वह उससे ज्यादा विचलित नहीं हुई। हृदय का समस्त हाहाकार दबाकर उसे यह भाव बनाये रखना पड़ा।

राजेंद्र की परीक्षा करने के बाद डाक्टर ने अपनी पत्नी के अलावा सबको कमरे से बाहर चले जाने की आज्ञा दी।

इसके बाद मनुष्य और काल की लड़ाई शुरू हुई।

सिर्फ विमला साक्षी रही। लेकिन उन कुछ क्षणों में ही डाक्टरी विद्या की संपूर्ण मर्यादा मानो बिजली की चमक की तरह एकाएक उसकी समझ में आ गयी। यह तो सिर्फ शुष्क विद्या नहीं है, जो मनुष्य को सिर्फ रसहीन करती है--यह तो मा को उसकी खोयी हुई संतान लौटा देती है, यह तो सृष्टिकर्ताका हाथ बँटाती है। इतनें दिनों तक उसने इस विद्या की उपेक्षा की।?

कैसे सहज रूप से, किस आसानी और भरोसे के साथ डाक्टर का तेज चाकू चल रहा है। कैसी गंभीर, कैसी सरल, उसकी मुद्रा है! कैसा विराट; कैसा भयंकर, उसका सौंदर्य है। जीवन में पहली बार विमला ने डाक्टर को श्रद्धा की दृष्टि से देखा।

आपरेशन के बाद जब डाक्टर बाहर निकला तो युद्ध-क्लान्त सैनिक की तरह वह थका मांदा और सुस्त नजर आता था। विमला के जीवन में प्रथम बार यह इच्छा हुई कि वह अपने आंचल से डाक्टर के माथे का पसीना पोंछ दे।

वक्त तो जरूर कुछ लगा, पर राजेन्द्र बच गया। लेकिन उसका उध्वांग सिर से कमर तक पक्षाघात से पंगु हो गया। जो जिह्वा इच्छा मात्र से एक दिन सैकड़ों सरस बातें कह सकती थीं, आज वह एक अस्फुट, अबोध्य आर्त्तनाद के अलावा और कुछ उच्चारण ही नहीं कर पाती थी; जो बड़ी-बड़ी आंखें विमला के लिये प्रधान आकर्षण थीं; आज वे ही ऐसी विकट हो गयी थीं, कि उन्हें देखने का साहस भी विमला नहीं कर सकती थी। राजेंद्र को हर रोज देखने आना भी क्रमशः उसके लिए एक मुसीबत हो गयी। उसका प्रेम धीरे-धीरे घृणा में परिणत हो गया।

अब अपने पति को पूर्ण रूप से देखने का सुयोग विमला को मिला।

उसका पति राजेंद्र जैसा सुन्दर नहीं है, लेकिन डाक्टर के व्यक्तित्व का रूप अभिनव है। शारीरिक सुन्दरता की तरह अपना ढिंढोरा पीट कर वह अपनी महत्ता तथा विशालता का विज्ञापन नहीं करता, लेकिन पर्वत की तरह शान्त अभ्यर्थना से मनुष्य को आकर्षित करता है।

उसके जीवन के एकाकीपन को शायद डा० संतोष ने भी समझा। पत्नी की उपेक्षा करने की आदत को उसने धीरे-धीरे दूर कर दिया। और एक दिन आश्चर्य और आनन्द से विमला को मूक करके उसने प्रस्ताव किया, 'अब वह डाक्टरी छोड़ कर गांव में ही स्थायीभाव से रहेगा—विमला के साथ, शान्ति और आनन्दपूर्वक।'

प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत हुआ। इसके बाद ही पारस्परिक मिलन से उनका हृदय मधुमय हो उठा। डाक्टर संतोष की मृत्यु तक उनके जीवन में फिर कोई कटुता नहीं आयी।

बहुत रात को शून्य गृह में उदास भाव से बैठी हुई विमला ये ही सब बातें सोच रही थी। इसी समय मौसी ने आ कर कहा, 'बेटी नारायण प्रसाद जी तुमसे मिलने आये हैं।'

नारायण प्रसाद डा० संतोष के वकील थे।

'इतनी रात में नारायण प्रसाद जी ?'—विमला ने पूछा।

'शायद जमींदारी के सम्बन्ध में कुछ बातें होंगी।'

'इस वक्त मैं किसी से बातें नहीं कर सकती, मौसी !'

'यही कहे देती हूँ।'

मौसी चली गयीं। लेकिन क्षण भर बाद ही फिर लौट आयीं। विमला के हाथ में एक लम्बा लिफाफा देते हुए कहा, 'यह बन्द चिट्ठी डाक्टर रख गये थे—वकील के पास, और कह गये थे कि सब काम काज खत्म होने के बाद तुम्हें दी जाय।'

कुछ जवाब दिये बिना ही विमला ने लिफाफा खोल कर पत्र निकाला। हां, उन्हीं के तो अक्षर है।

क्या लिखा होगा, अज्ञात आशंका से विमला ने पत्र पढ़ना शुरू किया--

"तुम्हारा यह ख्याल है कि राजेंद्र और तुम्हारे अवैध प्रेम के सम्बन्ध मे मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। यह तुम्हारी भूल है। दुर्घटना के दिन बिना किसी चेष्टा के ही मुझे तुम लोगो के गुप्त अपराध का पता चल गया था। नहीं, नहीं, तुम्हारे अभिनय में जरा भी त्रुटि नहीं हुई थी। तुम्हारे अभिनय से मुझे कतई संदेह नहीं हुआ था। राजेंद्र का आपरेशन करने के लिये जब मै उसका कोट उतार रहा था, तब उसकी जेब में से एक पत्र नीचे गिर पड़ा --वह पत्र तुम्हारा लिखा हुआ था, उस पत्र ने ही मेरी आंखे खोल दीं। तुम्हारी इस गलती के मूल मे मेरी ही उपेक्षा और उदासीनता थी, यह समझ कर मैंने उसी वक्त तुम्हे क्षमा कर दिया। लेकिन जिस व्यक्ति ने मित्र हो कर मेरी पत्नी को मुझसे छीन लिया, उसे मै इतनी आसानी से क्षमा नहीं कर सका। हाथ मे चाकू पकड़े हुए आपरेशन करने जा रहा था, एकाएक उसी वक्त मेरे अन्दर एक राक्षसी प्रतिहिंसा का भाव जाग उठा। मै उसको बिलकुल ठीक कर सकता था, पर मैंने ऐसा नहीं किया। क्लोरो-फार्म की मात्रा और समय बढ़ा कर उसे शान्ति से मरने दे सकता था, लेकिन मरने नहीं दिया।

'जीव-जंतुओं के मस्तिष्क के बारे मे मैंने बहुत रिसर्च की थी। किन-किन स्नायुओं में किस तरह का आघात करने पर मस्तिष्क बिलकुल खराब हो जाता है, यह विद्या मै अच्छी तरह जानता था। चाकू चला कर मेरे बचपन के प्रिय मित्र--तुम्हारे प्रणयी--श्रीमान राजेंद्र प्रसाद को मैंने एक जीवित जड़पदार्थ में रूपांतरित कर दिया।

'उसकी वह हालत देख कर तुम्हारे मन मे घृणा उत्पन्न हुई। राजेंद्र से घृणा करके तुम अपनी बाहे फैला कर मेरी ओर बढ़ीं। खोयी हुई दौलत की तरह मुझे तुम्हारा प्रेम वापस मिल गया।

'यह काम ठीक नहीं हुआ, मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन सिर्फ आपरेशन करने की विद्या सीखने से ही काम नहीं चलता, पत्नी का प्रेम पाने के लिये और भी कुछ करना पड़ता है—यह अमूल्य शिक्षा जिस दिन मुझे मिली, उस दिन इसका साधु-प्रयोग करने का कोई उपाय बाकी नहीं रहा था।

'मित्र के प्रति बहुत कठोर अत्याचार किया है—इस अपराध की क्षमा नहीं चाहता—तुमसे भी नहीं और भगवान से भी नहीं। लेकिन इस घटना को तुम्हें बिना बताये गुप्तरूप से मैंने तुम्हारे प्रेम को जो आघात पहुँचाया है—इस गलती के लिये तुम मुझे माफ करना—'

पत्र में एक दो लाइनें और भी थीं। लेकिन विमला आगे नहीं पढ़ सकी। उसकी आंखों की रोशनी धुँधली हो गयी। चेष्टा करने पर भी विमला अपनी मूर्च्छा को न रोक सकी।

पति के शोक में अभिभूत हो विमला अचानक बेहोश गयी है, यह सोच कर स्नेहमयी मौसी ने अपना माथा ठोंकते हुए कहा—हे परमात्मा, तुम राम-सीता जैसी दम्पति की सृष्टि ही क्यों करते हो? और फिर, अगर करते भी हो तो असमय में ही उनका विच्छेद क्यों करा देते हो?'

—:o:—

कन्हैया की मां

कन्हैया की मा का सही पेशा क्या था, यह कोई नहीं जानता। उसकी गुजर बसर कैसे होती है—नौकरी से या भिक्षा से, बहुत खोज करने पर भी यह स्थिर नहीं हो सका। वह प्रायः छः फीट लम्बी थी। इतनी लम्बी औरतें इधर कम ही होती हैं। और पुरुषों जैसा ही उसका चौड़ा और गठीला शरीर था। चेहरे पर मंगोल प्रभाव स्पष्ट था। नाक पूरी तरह से चपटी न होते हुए भी कुछ लिपी-तुती सी थी। आंखें छोटी-छोटी और भौंहें टेढ़ी तथा फूली-फूली। रंग एकदम काला न था, श्याम वर्ण था। कन्हैया की मा विधवा है या सधवा, यह भी पता नहीं चलता था; क्योंकि उसके दोनों हाथ नंगे थे। किसी भी प्रकार का कोई गहना या और कोई दूसरा सुहाग का चिन्ह उसके शरीर पर नहीं था। जो-कुछ पहनने को मिल जाता, वह उससे ही तन ढँक लेती थी। अतः लोगों ने उसे विधवा ही मान लिया था। इसके अलावा हमारे सामने आज तक किसी ने भी उसके पति होने का अपना परिचय नहीं दिया। फिर भी पिछले कुछ वर्षों में उसके कई बच्चे हुए थे। उनमें से एक लड़का अब भी जीवित है। दो लड़कियां भी हुई थीं, लेकिन वे मर गयीं।

मुहल्ले की एक चुलबुली महिला ने एक बार उससे प्रश्न किया—'कन्हैया किसका लड़का है?'

कन्हैया की मा ने उदासी से जवाब दिया—'यह मैं नहीं जानती। यह अभागा बिलकुल मेरी-जैसी शक्ल का ही हुआ है।'

कन्हैया की मा के शरीर में शायद आदिम खानाबदोशों का रक्त था। कहीं भी घर-गृहस्थी बनाना या नियमों को मान कर चलना उसके लिये असंभव था। उसका घर-बार कुछ न था—सिर के ऊपर आच्छादन तक नहीं। जहां ठौर मिली, वहीं पड़ रहे—बस, यही उसका हिसाब था। उसके अधिकांश दिन स्टेशन के जनाना वेटिंग-रूम में ही कटते थे। गर्मी के दिनों में वह अपने लड़के के साथ प्लेटफार्म पर ही पड़ी रहती, या अगर कोई नया मकान बनता होता, तो उसकी कंकरीली जमीन पर पुआल या फटी-पुरानी बोरी बिछा कर सो जाती, या अगर कहीं कोई झोपड़ी खाली मिल जाती, तो वहीं जम जाती। उसके बच्चे भी इसी तरह रास्ते या गली में यहां-वहां ही हुए थे। उसके लिये न शर्म थी और न कोई भय।

जैसे किसी भी दिन कन्हैया की मा का पति देखा नहीं गया, वैसे ही उसे किसी पुरुष से घनिष्टता करते हुए भी कभी किसीने नहीं देखा। बहुतों के लिये तो यही अविश्वसनीय था कि उसके भी प्रेमी हो सकते हैं। लेकिन फिर भी बच्चे तो हुए ही थे। कन्हैया की मा इस विषय में भी संस्कारमुक्त थी। लोग कानाफूसी करते कि स्वयं स्टेशन-मास्टर से लेकर पूरी-कचौड़ी बेचनेवाले ठेकेदार तथा उसके नौकर-चाकर और गेटकीपर महतो तक—किसी ने भी उसका प्रसाद ग्रहण करने में कभी भी कृपणता नहीं दिखाई थी। लेकिन कन्हैया की मा अपनी करुणा बेचती नहीं थी, दान करती थी।

नौकरी करने के प्रस्ताव और सुयोग उसे कई बार मिले थे; लेकिन वह कहीं भी टिक न सकी। बर्त्तन मांजती, तो दो-एक कटोरियां ही खो जातीं! कभी अधूरा काम करती और कभी काम करना ही भूल जाती! फिर उसकी चोरी से खाने की भी आदत थी। अतः नौकरी कैसे बनी रहती? इसलिये कहीं भी उसकी पक्की नौकरी न थी। हां, छोटे-मोटे काम पड़ने पर अक्सर उसकी बुलाहट होती थी। दाल पीसना, सड़क से पचासों बाल्टी पानी भर कर लाना, भारी-भारी और बड़ी थाली-परात

मांजना और रात के वक्त जूठी पत्तलें उठाना। ये सब काम उसे पसन्द भी खूब थे। एक तो उसको और उसके लड़के को पेट भरके अच्छा खाना मिल जाता था। दूसरे जूठी पत्तलों से जो सामान इकट्ठा होता था, उससे तीन-चार दिन के लिये भोजन की समस्या हल हो जाती थी। इसके अलावा थोड़ा-बहुत नकद रुपया-पैसा भी मिल जाता था। लेकिन जिन दिनों शादी-ब्याह के उत्सव नहीं होते थे, उन दिनों उसे तकलीफ हो जाती थी। उन दिनों कन्हैया और उसकी मा सब्जी-बाजार में इधर-उधर ताक लगाये घूमते रहते थे। कहीं किसी के थैले से दो-चार पके हुए टमाटर गिर पड़े अथवा किसी की टोकरी से कुछ आलू या और कोई दूसरी सब्जी निकल पड़ी, वैसे ही उसका लड़का अनजाने में गिरी हुई चीज को उठा कर चंपत हो जाता। इसके अलावा काला बैंगन, सड़ा हुआ कुम्हड़ा, सूखी सब्जी तथा चाय की उबाली हुई सूखी पत्तियां आदि तो थीं ही। सुबह से इन सब चीजों को इकट्ठा कर वह प्रायः ग्यारह बजे स्टेशन के सामने वाले नीम के पेड़ के नीचे जा बैठती। वहीं तीन-चार ईंटों से उसने एक चूल्हा-सा बना रखा था और उसी पर उसकी मिट्टी की हँड़िया चढ़ती। उस हँड़िया में सब चीजें एक साथ उबालकर, परचूनी की दुकान पर धरना देकर लाये हुए जरा से नमक को मिला कर उसका भोजन हो जाता। दो-चार दिनों के अंतर पर किसी परचूनी की दुकान में झाड़ू-बुहारी या कीड़े-मकोड़े की खाई हुई दाल को झाड़-बीन कर उसमें दो मुट्ठी चावल मिलाकर खिचड़ी बनती।

उसके रात के प्रणयी दिन में उससे बचकर चलते थे। सिर्फ गेटकीपर महतो ही ऐसा था, जो व्यापारियों से मिले हुए केले और मूली उसे बुला कर खाने को दे देता था। और कभी-कभी भरी दुपहरी में स्टेशन का टिकट-कलेक्टर चारों ओर देख कर दुअन्नी या चवन्नी उसकी ओर फेंक देता था। इन्हीं पैसों से वह चीनी और चाय खरीद लेती थी। किसी-किसी दिन ठेकेदार का नौकर रात की बची-खुची पूरियां भी दे देता था। इसी तरह उसके दिन किसी प्रकार कट रहे थे। पर इन सबके भरोसे वह नहीं रह

सकती थी और न वह इनकी परवाह ही करती थी। वह इन लोगों से कभी कुछ मांगती भी न थी। अपरिचित दुकानदार से वह भले ही नमक-मिर्च या तैल निःसंकोच भाव से मांग लेती; लेकिन अपने प्रेमियों के आगे भूल कर भी वह कभी एक पैसे के लिये हाथ नहीं फैलाती थी। शायद ऐसा करने पर उसके आत्म-सम्मानको चोट पहुँचती।

उसे एक सुविधा थी कि अभाव जो-कुछ भी था, वह अन्न का ही—वस्त्र का नहीं। वस्त्र के संबंध में कन्हैया की मा पूर्णरूप से बीतराग थी। लड़का तो दिगम्बर हो घूमता था और उसके खुद के लिये एक धोती काफी थी। जिस दिन नहाने की इच्छा होती, उस दिन वह अपने उलझे, रूखे और जकड़े हुए बालों वाले सिर-सहित नदी में डुबकी लगा लेती। फिर वह गीली धोती—सैकड़ों जगहों से फटी और पचासों गांठें बंधी हुई—बदन पर ही सूखती। उसको पहने-पहने ही वह मिले हुए पैसों से पेड़ा खरीद कर खाने बैठ जाती। लेकिन उन पैसों से वह एक गज भी कपड़ा खरीदने की कोशिश नहीं करती। उसकी इस हालत पर अगर किसी को तरस आ जाता, तो वह खुद ही उसे बुला कर एक पुरानी धोती दे देता। वह उसे पहन लेती और अपने पुराने वस्त्र को चिथड़े-चिथड़े कर सड़क पर फेंक देती। इससे पहले शादी-ब्याह के वक्त उसे बिलकुल नई धोतियां भी मिली थीं, पर उन धोतियों को मिलने के साथ-साथ ही उसने सस्ते दामों पर बाजार में बेच दिया और उन पैसों से मिठाई खा ली! इसलिये अब उसे नये कपड़े कोई नहीं देता। जिस मकान में काम करने के लिये उसे बुलाया जाता था, वे लोग भी उसकी धोती की यह दशा देख कर कोई साफ-सुथरी पुरानी धोती दे देते थे और कहते थे—'अब अपनी मैली धोती उतार दे।' सिर्फ जाड़े के दिनों में तकलीफ होती थी : उन दिनों लोगों से मांग-मांग कर दो-चार फटे पुराने गरम कपड़े इकट्ठे करने पड़ते थे, जैसे लड़के के लिए स्वेटर और बनियान। आस-पास के जंगल से लकड़ियां, फल की दुकान से टूटी टोकरियां और सड़कों पर से जमा किये हुए छोटे-छोटे

काठ के टुकड़ों को जला कर ही वह सारी रात काट देती थी। जाड़े का मौसम बीतने के साथ-साथ वह इन बची-खुची चीजों को फेंक देती थी। आगामी वर्ष का ख्याल उसे एक क्षण के लिये भी चिन्तित नहीं करता था। उसकी जीवन-यात्रा का पदक्षेप कहीं भी स्वयं को किसी भार से दबाना नहीं चाहता था--कहीं भी वह बंधन में नहीं पड़ना चाहती थी।

फिर भी एक दिन कन्हैया की मा ने अपना घर बसाया। एक दिन स्टेशन पर मैंने देखा कि प्लेटफार्म के एक कोने पर बेहद भीड़ जमा है। भीड़ में झांक कर देखा कि एक पागल है। उसके शरीर पर जगह-जगह चिथड़े लिपटे हुए हैं। चेहरा सूखा हुआ है। उसने अपने चारों तरफ चिथड़े-गुदड़े और फटे कागजों का ढेर लगा रखा है। मालूम हुआ कि कुछ देर पहले जो ट्रेन बनारस से आयी थी, उसी से यह उतरा है। किसी ने कहा--ट्रेन के दूसरे मुसाफिरों ने जबरदस्ती धक्का दे कर इसे यहां उतार दिया है। जरा और गौर से देखा, तो जाना कि इसकी उम्र ज्यादा नहीं है। बहुत हुआ तो, तीस-बत्तीस साल का होगा। वेष-भूषा और रंग-ढंग से प्रौढ़ जैसा लग रहा था।

शाम को जब उधर से लौट रहा था, देखा कि वह आदमी उसी जगह ठीक उसी तरह बैठा हुआ है। पर अब उसके चारों ओर की भीड़ बहुत कम हो गयी थी। इस बीच शायद लोगों का कौतूहल कम हो गया था। दूसरे दिन सुबह उधर से गुजरते वक्त भी मैंने देखा कि वह आदमी उसी जगह बड़े आराम से बैठा हुआ है। जरा भी हिला-डुला नहीं है, और उसके चिथड़े-गुदड़े और फटे कागजों का ढेर भी वैसे ही है। लेकिन शाम को जब मैं स्टेशन गया, तो वह नजर नहीं आया।

कहते हैं कि कन्हैया की मा को पागल का यह अनधिकार प्रवेश कतई बरदाश्त नहीं हुआ--अर्थात् स्टेशन उसका इलाका है। उसे यह पसंद नहीं कि वहां और कोई दूसरा व्यक्ति इस तरह कब्जा जमा कर बैठ जाय।

शाम तक तो उसने इस बात की कोई परवाह नहीं की; लेकिन जब रात हुई और उसने देखा कि यह पागल हटने का नाम ही नहीं लेता, तो वह बहुत चिढ़ गयी और उसे गालियां देने लगी। पर जब इसका कोई असर नहीं हुआ, तो उसने हो-हल्ला मचाना शुरू किया। लेकिन पागल निर्विकार रहा। अंत में जब रात और बढ़ने लगी, तो वह बहुत चिंतित हो गयी। उसने लाइन पर से दो-चार पत्थर उठाकर पागल की तरफ फेंकने शुरू किये। एक पत्थर उसके माथे में लगा। स्टेशन की धुंधली रोशनी में भी कन्हैया की मा को नजर आ गया कि पागल के माथे से खून बह रहा है। फिर भी वह पागल वैसे ही बैठा रहा। उसका चेहरा उस वक्त भी निर्विकार रूप से शांत था। सिर्फ बीच-बीच में वह कुछ बड़बड़ा उठता था। पर खून बहता देख कर कन्हैया की मा खुद ही घबरा गयी। अब और मारने का साहस उसे नहीं हुआ। वह बकती-झकती अपने लड़के का हाथ पकड़ कर जनाने वेटिंग-रूम में घुस गई और अंदर से दरवाजा बंद कर लिया। इतने पर भी जब उसे पूरी निश्चिन्तता नहीं हुई, तो उसने एक बेंच खींचकर दरवाजे में अड़ा दी।

कन्हैया की मा को पूरा विश्वास था कि दूसरे दिन सुबह जब वह सोकर उठेगी, तो पागल नजर नहीं आयगा। लेकिन दूसरे दिन सुबह उठ कर दरवाजा खोलते ही उसे नजर आया—वह पागल ठीक उसी जगह और और उसी भाव से बैठा हुआ है। 'यह अच्छी आफत आयी!' कन्हैया की मा ने मन ही मन कहा—'यहां क्यों आ मरा, और कोई दूसरी जगह नहीं थी?' लेकिन उसके वहां से हटने के कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये। फिर कुछ लोग उसके इर्द-गिर्द जमा हो गये। कुछ बच्चों ने उससे छेड़-छाड़ की, चिढ़ाने की कोशिश की; पर इसका भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। अन्त में हार कर धीरे-धीरे सब चले गये। सूनसान प्लेटफार्म पर सिर्फ पागल ही अकेला रह गया।

कन्हैया की मा सुबह ही कहीं चली गयी थी अपनी खुराक का प्रबन्ध

करने। प्राय: ग्यारह बजे अपना खाना बनाने के लिये वह लौटी। पेड़ के सूखे पत्तों को जला कर मिट्टी की हँड़िया में उसने चाय का पानी चढ़ाया और अपने लड़के कन्हैया से कहा—'प्लेटफार्म पर देख तो, वह मरा है या चला गया?'

स्टेशन के बाहर लोहे की रेलिंगों पर कन्हैया चढ़ गया और उधर देख कर बोला—'है मा, वैसे ही आसन लगाये बैठा है।'

'क्या मुसीबत है! क्या भूखों मरेगा?' अकस्मात् जैसे कन्हैया की मा उतप्त हो उठी—'मुझे जलाने न-जाने यह कहां से आ मरा। सारी मुसीबतें क्या मेरे ही हिस्से में हैं!'

कन्हैया रेलिंग से नीचे उतर कर आ गाया। उसने आश्चर्य से पूछा—'मा तुम फजूल क्यों नाराज हो रही हो उस पर? तुम्हारा क्या लेता है? बैठा है तो बैठा रहने दो साले पाजी को।'

कन्हैया की मा ने और भी ज्यादा चिढ़ कर जोर से कहा—'हां, मुझे क्या है! कल से जरा भी हिला-डुला नहीं और न कुछ खाया-पिया है। सब लोग खड़े हो कर तमाशा देखते रहे, लेकिन किसी से भी यह नहीं हुआ कि उसे कुछ खाने को देता। ऐसी हालत मे अगर यह भूखों मर जाय तब क्या होगा?'

'तो तुम्हारा क्या है? तुम क्यों इतना चिल्ला रही हो? मरेगा तो मर जायगा।'

'हूँ मर जायगा!' और बक-बक करती हुई कन्हैया की मा उठी और खुद प्लेटफार्म पर पहुँची। उसका हाथ पकड़ कर हिलाया और बोली—'अबे ऐ सुनता है? उठेगा नहीं? कुछ खायेगा-पियेगा नहीं?' पागल ने उसकी तरफ देखा भी नहीं, उत्तर देना तो दूर रहा। तमक कर फिर वह बोली—'अरे ऐ, तू बिना पीठ-पूजा कराए नहीं उठेगा, क्यों? निकल यहां से, दूर हो।'

पर पागल टस-से-मस तक न हुआ और वह यों हीं बकती-झकती

प्लेटफार्म पर से लौट आयी। कन्हैया ने नाराज हो कर कहा—'अब तुम जल्दी से चाय बनाओ। उस पगले के साथ तुम भी पागल हो गई ?'

कन्हैया की मा ने खौलते हुए पानी में चाय की थोड़ी-सी पत्तियां डाल दीं और एक लकड़ी से उसे चलाया। फिर नीचे उतारकर उसमे चीनी मिलाई और छानने बेठी। कुछ मिट्टी के कुल्हड़ थे, जिनमे मा-बेटा चाय पीते थे। उनमे से एक में उसने लड़के को चाय दी अपना कुल्हड़ भी भर लिया। लेकिन तब भी चाय बच रही। कन्हैया ने यह देख कर प्रश्न किया 'आज इतना ज्यादा पानी क्यों चढ़ाया मा ?'

'हूँ !' कह कर कन्हैया की मा उठी और एक कुल्हड़ मे बाकी बची हुई चाय ढाल कर प्लेटफार्म पर गयी। पागल के सामने कुल्हड़ रख कर उसने जरा कड़क से पूछा—'ऐ पागल चाय पीयेगा ?'

इतनी देर बाद मानो पागल का ध्यान भंग हुआ। उसने एक बार उसके मुँह की तरफ देखा और फिर चाय के कुल्हड़ पर नजर डाल कर बिना कुछ कहे-सुने ही कन्हैया की मा के हाथ से चाय का कुल्हड़ एक झटके से छीन लिया और गरमागरम चाय एक ही सांस मे पूरी पी गया। खाली कुल्हड़ को चिथड़े-गदड़े और फटे कागजो के ढेर पर रख कर बड़बड़ाने लगा।

'वाह चाय तो तू खूब पहचानता है !' कन्हैया की मां लौट आई और अपने दोनों पेर फेलाकर आराम से चाय पीने बैठी। इतनी देर बाद मानो उसके विवेक पर से एक बोझ हट गया।

चाय के बाद खाने की बारी थी। एक मकान से तीन-चार बासी रोटियां मिली थीं। थोड़ी-सी सब्जी बनानी थी। लेकिन सब्जी बनाते वक्त कन्हैया की मा ने रोज से ज्यादा बनाई। इतनी देर से कन्हैया तीक्ष्ण दृष्टि से सब हरकतों पर गौर कर रहा था। वह बोल उठा—'इतनी ज्यादा सब्जी क्यों बना रही हो मा ? इस पागल को क्या फिर खिलाओगी ?'

कन्हैया छः-सात साल का ही है; लेकिन उसकी समझ किसी बड़े से

कम नहीं है। उसकी मा चिढ़ कर बोली--'खिलाऊँ नहीं तो और क्या करूँ, बता ? वह यहां भूखा बैठा रहेगा और हम लोग खायेंगे !'

कन्हैया और भी चकित हो कर बोला--'वह खाये या भूखों मरे, इसमें तुम्हारा क्या बनता बिगड़ता है ? वह साला बदमाश है, बना हुग्रा पागल है। चाय तो कैसे जल्दी पी गया !'

कन्हैया की मा ने इसका कोई जवाब नहीं दिया और साग बाजार से उठाये हुए सड़े-गले बैंगन काटती रही। जब सब्जी बन गयी, तो वह खुद ही पागल को बुलाने गयी। जा कर उससे कहा--'ऐ पगले, रोटी खानी है, तो ग्रा।'

पागल निर्विकार ही रहा। धूप तेज पड़ रही थी और ऐसी कड़ी धूप में भी वह एक ही भाव से बैठा था। सारा शरीर पसीने से तर हो रहा था। सिर के उलझे और जकड़े हुए बालों से एक प्रकार की बदबू ग्रा रही थी। इस पर कन्हैया की मा ने फिर झुंझला कर कहा---'इस कड़ी धूप में तू कैसे बैठा हुग्रा है रे, गर्मी और लू से मरेगा क्या ? चल, यहां से उठ।' लेकिन जब इसका भी कोई जवाब नहीं मिला, तो कुछ ग्रसहिष्णु भाव से वह बोली--'रोटियां हैं रे, रोटियां। रोटी नहीं खायेगा ? फिर क्या खाएगा ?'

पागल की मुख-मुद्रा से यह भी पता नहीं चलता था कि उसने ये सब बातें सुनीं भी या नहीं। तब कन्हैया की मा ने बहुत-कुछ ग्रसहाय की तरह इधर-उधर देखा और कुछ ग्रागे बढ़ कर उसका एक हाथ पकड़ कर खींचा। उसके मन में एक ग्राशंका थी और उसके लिये वह तैयार भी थी कि पागल विरोध करेगा; पर ग्राश्चर्य, उसने एक शब्द भी नहीं कहा और एक सीधे-सादे बालक की तरह कन्हैया की मा के पीछे-पीछे चला ग्राया।

कन्हैया की मा ने उसे पेड़-तले से कुछ दूर पर बैठाया। उसके सामने एक पत्ते पर दो बासी रोटियां और थोड़ी-सी सब्जी रख दीं। पागल मानो दावत खाने ग्राया हो। पर इस बात से कन्हैया बहुत नाराज हो गया। खाते-खाते वह एक दम उठ बैठा और हाथ-पैर पटक कर बोला--'जाओ

मैं नहीं खाता। उसे यहां बिठा कर खिला रही हो, उसके शरीर से ऐसी बदबू आ रही है कि उल्टी हो जायगी !'

कन्हैया की मा ने कठोर स्वर में कहा--'नहीं खाता है, तो मत खा। उसके शरीर से क्या फूलों की सुगंध आयगी ? तू खुद भी तो सात जन्म में नहीं नहाता।' कन्हैया और भी कुछ कहनेवाला था कि उसके मुँह पर जोर का एक तमाचा पड़ा। बोली--'चुप चाप बैठ कर खाले, बन्दर कहीं का ! रोटी इतनी सस्ती नहीं है।'

खा-पी चुकने के बाद जूठे हाथों से ही कन्हैया की मा ने पागल का एक हाथ पकड़ा और नदी-किनारे की ओर ले चली। इस बार भी उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया और न बाधा देने की चेष्टा ही की। कन्हैया की मा जब उसे खींच कर पानी में उतारने लगी, सिर्फ तब उसने एक झटके के साथ अपना हाथ छुड़ा लिया और जोर से जंगल की तरफ भागा।

लेकिन कन्हैया की मां उसे इतनी जल्दी छोड़नेवाली नहीं थी। वह भी उसके पीछे-पीछे दौड़ी। काफी दूर तक दौड़ने के बाद आखिरकार उसने पागल को पकड़ ही लिया। इस बार उसने इतना कस कर हाथ पकड़ा कि बहुत चेष्टा करने पर भी वह छुड़ा नहीं सका। कन्हैया की मा उसे घसीटती-खींचती हुई लायी और पानी में डुबो दिया। पास के एक पेड़ से कुछ पत्ते भी तोड़ लायी और उनसे उसका बदन रगड़ने लगी। कुछ देर तक उसे इस तरह नहलाने के बाद उसे छोड़ कर खुद भी दो-चार बार डुबकियां लगाई और फिर हमेशा की तरह भींगे बालों और गीली धोती से ही मुहल्लों में चक्कर लगाने चली गयी। पागल कहां चला गया इसकी कोई खबर भी उसने नहीं ली।

शाम को जब वह लौट कर उस पेड़ के नीचे आयी, तो क्या देखती है कि पागल वहां बहुत शांत भाव से बैठा है। यह देख कर कन्हैया की मा के

शरीर में जैसे आग लग गयी—'फिर यहां आ कर बैठ गया? भाग, चला जा यहां से।'

वह एक मोटी लकड़ी ले कर उसे मारने दौड़ी। लेकिन पागल पहले की तरह ही निर्विकार भाव से बैठा रहा। उसके चेहरे पर निश्चिन्तता का यह भाव देख कर कन्हैया की मा और भी जल उठी—'हरामजादा खाने को दो, तो खा लेता है, चाय पहचानता है, घूम-फिर कर ठीक इसी जगह लौट आया; लेकिन बातें सुनने के वक्त पागल बन जाता है! ठहर तो सही, अभी तेरा सारा पागलपन निकालती हूँ।'

और वाकई उसने पागल की पीठ पर तीन-चार लकड़ियां जमा ही दीं! वैसे ही कन्हैया की मा बहुत तन्दुरुस्त थी, फिर इस वक्त वह गुस्से में भरी हुई थी। अतः अच्छी धुलाई हुई। लेकिन यह भी मालूम हो गया कि पागल मार खाना भी जानता है। वह जरा हिला-डुला, कुछ बका-झका और उँह-आह की; पर वहां से उठा नहीं और न उसने किसी प्रकार का कोई प्रतिवाद ही किया।

उसको इस तरह मार कर कन्हैया की मा को खुद कुछ दुःख हुआ। वह कोई बच्चा तो है ही नहीं, पागल है। शायद कुछ थक भी गयी थी। गालियां देती हुई वह अपनी जगह पर आ कर रसोई बनाने बैठी। खाना कुछ ज्यादा ही बनाया। पागल की तरफ पीठ करके उसने खाना खाया। खाते वक्त कन्हैया की मा बीच-बीच में पीछे की तरफ भी मुड़ कर देख लेती थी। लेकिन उसे उसी वक्त खाने को नहीं दिया। जब वह और उसका बेटा कन्हैया खा चुके, तो जो-कुछ बचा, उसे एक पत्ते पर रख कर उसके सामने चुपचाप रख गयी। अपने लड़के का हाथ पकड़ा और स्टेशन पर सोने चली गयी।

दूसरे दिन सुबह उठ कर वह उस तरफ गयी ही नहीं। एक मकान में कनछेदन और मुंडन था, वहीं काम करने चली गयी। सारे दिन चाय, जलपान, रोटी और रात को पूरियां तथा मिठाई! अच्छा

आयोजन था। सब काम काज पूरा कर पेट भर के खाना खाने के बाद पत्तलों की जूठन एक छोटी-सी टोकरी में भर कर जब कन्हैया की मा लौटी, तो काफी रात हो चुकी थी। रास्ते भर कन्हैया यही रट लगाये हुए था—'मा, यह सब खाना तुम पागल को मत देना। अभी से कह देता हूँ। हां, कल सुबह में खाऊँगा।'

'तू कितना खायगा ? तेरा पेट है या कोट। उनके यहां तो कल भी जाना है। वहां खाना फिर ? और यही क्या ठीक है कि वहां पागल होगा ही।'

लेकिन पागल वहीं था—उसी पेड़ के नीचे और ठीक उसी भाव से। कन्हैया की मा ने सारी टोकरी उसके सामने उलट दी और बोली—'ले, पेट में ठूंस। न-जाने कहां से मुसीबत आ गई है !'

इसके बाद से यह देखा गया कि उसका सारा भार कन्हैया की मा ने अपने ऊपर ले लिया। कहीं से एक फटी धोती ले आयी और उसका मैला चिथड़ा उतरवा दिया। नाई की खुशामदें कर उसकी हजामत बनवाई और नदी में उसे नहलाया-धुलाया। यह सब उसके अपने स्वभाव से वितरीत था। फिर भी हरचन्द यही कोशिश करती कि वह साफ-सुथरा रहे। जब वह साफ-सुथरा हो गया, तो अच्छा लगने लगा। उसकी उम्र भी ज्यादा नहीं थी। शायद किसी भले आदमी का ही लड़का हो, कौन जाने ! लेकिन आश्चर्य यह था कि उस पागल ने भी कन्हैया की मा को जैसे अपना अभिभावक मान लिया था : वह जो कहती थी, वही करता—लेकिन उसका पागलपन दूर नहीं होता था।

कुछ दिनों बाद उन दोनों में से एक भी नजर नहीं आया। पता चला, पास के एक दूसरे शहर में वे दोनों किसी देवी-देवता की मनौती करने गये हैं। वहां से लौट कर स्टेशन से कुछ दूर पर ही कन्हैया की मा ने डेढ़ रुपया माहवार पर एक झोंपड़ी किराये पर ली। अब वह तीन-चार लोगों के यहां ठीक ढंग से मेहरी का काम भी करने लगी। जो आजन्म खानाबदोश थी,

वह मानों किसी मंत्र-बल से परिश्रमी गृहस्थ बन गयी। उसका यह परिवर्तन अद्‌भुत था। खैर, कन्हैया की मा गृहस्थ हो गयी, यही क्या कम था!

लेकिन करीब ढाई-तीन महीने बाद कन्हैया की मा ने फिर प्लेटफार्म पर डेरा जमा लिया और अब फिर नए सिरे से पहले-जैसी ही उसकी जीवन यात्रा शुरु हो गयी। सुना, पागल अच्छा हो कर कहीं भाग गया। कन्हैया की मा ने उसे बहुत खोजा, पर कहीं भी उसका पता नहीं चला। पागलपन की हालत में उसने जिसे अपना अवलंब बनाया था, स्वस्थ हो कर वह उसी अवलंब का संसर्ग सहन नहीं कर सका। सिर्फ कन्हैया की मा के चिर-उदासीन चेहरे पर एक विषाद की छाप छोड़ गया है। सब-कुछ पहले-जैसा ही है, लेकिन अब वह पहले जैसी कन्हैया की मा नहीं है!

वह आज भी उस झोंपड़ी का डेढ़ रुपया किराया हर महीने दे देती है—हालांकि वह खुद पहले की तरह मैदान या प्लेटफार्म पर ही रहती है। चाहे जैसे भी हो, वह किसी न किसी प्रकार डेढ़ रुपया इकट्ठा कर लेती है। क्षण-भर के लिये अपनी बनाई हुई गृहस्थी का अंतिम चिन्ह वह पोंछ क्यों नहीं पाती, जीवन के इस अति छोटे अंश का इतिहास वह निश्चिन्त हो फेंक क्यों नहीं पाती—यह शायद कन्हैया की मा खुद भी नहीं जानती!

—०—

पार के पार

बस के अड्डे के पास से एक काफी लम्बा चौड़ा रास्ता लेक की ओर चला गया है ।

यहां से दस-बारह कदम के फासले पर रेल की लाइनें हैं । कुछ दूर पर दो-चार झोपड़ियां भी नजर आती हैं । यहां पंजाबी बस वालों का शोर-गुल, चाय की छोटी-छोटी दुकानों में रेस के प्रेमियों का हो-हल्ला और बस तथा ट्राम की घड़-घड़ आवाज हमेशा सुनाई देती रहती है । कोल-तार का बहुत ही सुन्दर रास्ता है, लेकिन वह भी मोटरों की कीचड़ और तेल से गन्दा हो जाता है ।

बस के अड्डे के बगल में ही चौड़ा फुटपाथ है । फुटपाथ की हरी घास पीली पड़ गयी है । यहां एक इमली का पेड़ भी है ।

फुटपाथ पर एक घोड़े ने शरण ले रखी है । घोड़े की पीठ पर इतने घाव हैं कि धूप से काले पड़े हुए चमड़े में यदि लाल रंग न होता तो लोग उसे जेब्रा ही समझ लेते । घावों पर रात-दिन मक्खियां भन-भन करती रहती हैं । घोड़े में पूंछ से मक्खियों को उड़ा देने की या तो शक्ति नहीं है अथवा इच्छा । जब बेहद परेशान हो जाता है, तो जमीन पर पैर पटक-पटक कर वह कभी-कभी अपनी आपत्ति जाहिर कर देता है । और फिर उसी प्रकार निर्विकार रूप से पीली घास चबाना शुरू कर देता है ।

उस घोड़े के पास ही एक दिन देखे गये---तीन चार एनामेल के टूटे-फूटे बर्त्तन, धुएं से काली पड़ी हुई मिट्टी की दो हंडियां और तीन भिखारी ।

उनमें एक तो लूला है, दूसरा काना और तीसरी एक स्त्री है ।

वे उस फुटपाथ पर ही इमली के पेड़ तले, घायल घोड़े के पास ही अपना घर बसाकर जम गये। लूला और काना भीख मांगने जाते है। वह स्त्री भीख मांगती है और साथ-साथ लकड़ी इकट्ठी करना, फटे-पुराने कपड़े बटोरना तथा गृहस्थी की जरूरी चीजे जमा करके लाती है। वह स्त्री उनके गृहस्थी-युद्ध की नेता है। अभी वह जवान है। उसके शरीर पर एक फटी-पुरानी धोती है और वह भी कीचड़ जैसी हो गई है। पोशाक नामक वस्तु सिर्फ लज्जा निवारण के लिये है, यह उस स्त्री को देखते ही समझ मे आ जाता है। उसके शरीर पर धूल का प्रलेप तो जमा हो ही रहा है, बालों मे भी शायद तेल कभी नहीं पड़ा, उलझे और रूखे है। लेकिन फिर भी यौवन छिपता नहीं है। स्त्री का नाम--नाम उन लोगों के लिये गौण है।

उनके जीवन मे विचित्रता भी है। जब तक कोई खास जरूरत नहीं होती या वहां से पुलिस उन्हे उठा नहीं देती, तब तक उस फुटपाथ पर ही जमे रहेगे। यही उनके जीवन की गतानुगतिकता है। इसके बाद फिर कहीं किसी पेड़ के नीचे, कोई दूसरा फुटपाथ।

उस फुटपाथ पर ही उनके दिन बीतते है। दिन के वक्त वे ज्यादा दिखायी नहीं देते। रात के वक्त नजर आता है कि फुटपाथ के किनारे लकड़ियों के छोटे-छोटे टुकड़े जल रहे है और ईंटो से बनाये हुए चूल्हे पर हँडिया चढ़ी हुई है और वह स्त्री निर्विकार रूप से सामने बैठी है। आग की लाल रोशनी मे स्त्री का गन्दा चेहरा और भी गन्दा लगता है। उलझे और सूखे बाल हवा मे उड़ते है। मुंह पर किसी प्रकार के भावों का चिन्ह तक नहीं। काफी देर बाद लूला और काना लौट कर आते है। ज्यादा बाते करने की उन्हे जरूरत नहीं होती। बातचीत करना उनके लिये फिजूल है। लूला बैठ जाता है, बैठते ही बगल मे थूकता है और फिर एक बीड़ी ओठों से लगाकर कहता है--हट, हट।

खाने के बाद उस इमली के पेड़ के नीचे ही फटे कपड़े ओढ़कर वे सब

पास-पास सो जाते हैं। उनमें भला स्त्री-पुरुष का क्या व्यवधान? लूला अपने लूले हाथ से कपासी को एक बार स्पर्श करता है। कपासी सिहर उठती है। कहती है--वह जली हुई लकड़ी देखते हो न, यही तेरे मुंह में घुसा दूंगी।

लूला अपने पीले दांत निकालते हुए हँस देता है। लेक पर चन्द्रमा छा जाता है। रास्ते में इलेक्ट्रिक की बत्तियां जलती रहती हैं। उस वक्त आधी रात होती है।

सोता हुआ घोड़ा एकाएक विचित्र आवाज करता है।

दिन कटते हैं--समुद्र की अविश्राम लहरों जैसे गतानुगतिक दिन।

एक दिन शाम को कपासी खाना बना रही थी। उस दिन लूला और काना जल्दी लौट आये थे। आग के सामने कपासी का मुंह मृत जैसा लग रहा था। एक लंगड़े को भी इस रास्ते पर देखा गया। बैशाखी के सहारे वह इन लोगों की तरफ ही बढ़ा चला आ रहा था। उसका एक पैर घुटने के नीचे से कटा हुआ था। लूले के सामने आकर लंगड़ा खड़ा हो गया। कपासी की हंडिया पर एक बार ललचायी हुई नजर डालकर उसने कहा--पैसे तो मिल जाते हैं, लेकिन रोटी नसीब नहीं होती।

अंटी से दो बीड़ी निकालकर वह लूले और लंगड़े को देता है। इसके बाद भाषा में जो प्रकाश करता है, उसका भावार्थ होता है--रोज गरम रोटियां, कम से कम एक वक्त मिलने पर, वह इनके दल में खुशी से शामिल हो सकता है।

लूला कहता है--भाग, भाग जा साले।

काना हँस पड़ता है। फिर लूले की ओर मुंह फिरा कर कहता है --गरम रोटियां खाने का इतना शौक है तो साले फिर ब्याह क्यों नहीं करता? लाट साहब का बच्चा है!

लंगड़ा भी हँस पड़ता है। आकार में छोटा, तांबे जैसा शरीर का

रंग। वह जानता है कि किस वक्त चुपचाप अपमान सहन कर लेना चाहिये। कपासी के मुंह की ओर तिरछी नजरों से देख कर वह अपने पैसों की कटोरी हिलाता है। कहता है, पैसे हैं।

लूला यह बरदाश्त नहीं कर सकता--अबे, ओ लाट साहब के बच्चे ! अपना रास्ता क्यों नहीं पकड़ता, कब से दिमाग चाट रहा है !

इतनी देर बाद कपासी बोलती है। आग की तरफ से मुंह न हटाते हुए ही वह कहती है--रहने दो, अपना क्या लेगा।

लूला गरज उठता है--रहने दें ? क्यों ? अभी से प्रीति हो गयी ?

अब कपासी मुंह घुमाती है। जो कुछ कहती है वह सफेद कागज पर नहीं लिखा जा सकता। बहुत जबरदस्त गाली-गलौज और झगड़ा होता है।

अन्त में देखा गया कि वह लंगड़ा उनके दल में शामिल हो गया।

फिर दिन बीतते हैं। वैसे ही दिन।

लंगड़े को लौटने में देर अवश्य होती है, लेकिन भीख सबसे ज्यादा लाता है। उस दिन लौटकर काना बोला--आज उस साले को देखा।

'किसे ? लूले ने प्रश्न किया।

'और किसे ? अपने लाट साहब के बच्चे को। साला भीख ऐसे मांगता है, जैसे नाटक कर रहा हो !--'आपकी जय हो, भगवान आपका भला करें, हमेशा बरक्कत हो'--नकल करके काना बताता है।

लूला हँस पड़ता है। कपासी निर्विकार है।

आधी रात के बाद लूला और काना सो जाते हैं, तब लंगड़ा आहिस्ता-आहिस्ता पूछता है--'कपासी, सो गयी ?'

'नहीं, क्यों ?'

'देख, तेरे लिये क्या लाया हूँ !'

'क्या ?'

'यह देख !'

लूले को सरका कर वह कपासी की तरफ अपनी मुट्ठी बढ़ा देता है। कपासी के हाथों में कानों के झूमके चमकने लगते हैं।

'कहां मिले ?' धीरे से कपासी पूछती है।

'रास्ते में।'

'रास्ते में ? झूठ।'

होठों पर अपना एक हाथ रखकर लंगड़ा हँसता है।

लेक के उस पार घना काला अन्धकार है, पथ सूनसान।

सुबह वे दोनों भिक्षा को चले जाते हैं। लंगड़े से कपासी, पूछती है--तू आज नहीं गया ?

लंगड़ा जवाब देता है--अभी जाता हूँ। कपासी, थोड़ी-सी चाय बना दे।

'ओफ ओ। चल कलमुंहे लाट साहब जैसा मिजाज है।"

लंगड़ा हँसता है--फिर, अंठी से एक इकन्नी फेंक कर कहता है--'जाओ कपासी, इस बीच मैं आग जला देता हूँ।'

कपासी हँस पड़ती है। इकन्नी उठाकर वह चली जाती है। लंगड़ा आग जलाने बैठता है।

कपासी जब लौट कर आती है, उस वक्त लंगड़ा धुएँ से बेहाल रहता है। कपासी को देखकर कहता है--'बड़ी हरामजादी लकड़ियां हैं।'

कपासी हँसती है--'रहने दो, छोड़ दो, बहुत हो गया। यह लो चाय।

'बनी-बनायी चाय ?'

'हां रे कलमुंहे।'

'कहां से लायी ?'

'उस पञ्जाबी की दूकान से लायी हूँ। ले, खड़ी नहीं रह सकती।'

'खड़े रहने को कौन कहता है। बैठ, तू नहीं पीयेगी ?'

'मैं ? नहीं।'

'हट, भला यह हो सकता है ? तू भी पीयेगी, इसीलिये तो मंगायी है ।'

'वाह रे, क्या कहना ।'

'लो, लो । एक कुल्हड़ और लायी होती ? जरा भी अक्ल नहीं । ले, पहले तू ही थोड़ी सी पी ले, बाद में मुझे दे देना ।'

कपासी एक दफा लंगड़े की ओर देखती है, फिर पीती है ।

कुल्हड़ देते वक्त लंगड़ा कपासी का हाथ पड़कड़कर खींचता है । एक झटके ही में हाथ छुड़ा कर कपासी कहती है—'अरे ओ हरामी, कैसी चालाकियां जानता है ।'

लंगड़ा कहता है—'यहां आओ न कपासी, मेरे नजदीक आ कर बैठो ।'

'भाग, भाग । जा अपना काम कर ।'

'तुम नहीं चलोगी ?'

'हूँ ।' कपासी के स्वर में शिथिलता है । फिर वे चुप-चाप बैठे रहते हैं । लंगड़ा एक बीड़ी कपासी की ओर बढ़ा देता है । रास्ते के किनारे इमली के पेड़ के नीचे बैठे-बैठे वे बीड़ी पीते हैं ।

घायल घोड़ा जमीन पर पैर पटकता है । सामने ट्राम और बस आदमियों से ठसाठस भरी हुई तेजी से चली जा रही है ।

दिन खत्म होने पर रात आती है । लंगड़े को लौटने में देर होती है । उस दिन अन्य दिनों की अपेक्षा ज्यादा देर हुई । निस्तब्ध पथ में उसकी दोनों वैशाखियां ठक-ठक बजती हैं ।

काना कहता है—'वह साला आ रहा है ।'

लंगड़ा आकर पूछता है—'तुम लोग सो रहे हो ? मेरी रोटियां कहां हैं, कपासी ?'

कपासी जवाब देती है—'हँड़िया में है, निकाल कर खा ले ।'

'जरा देर शायद बैठा नहीं रहा जाता ?' लंगड़ा कहता है।

'रोटी मिलती है, यही बहुत है। साले का रौब देखो।' लूला कहता है।

गम्भीर चेहरा बनाये लंगड़ा चुपचाप खा लेता है।

फिर आधी रात के बाद किसी के धक्के से लंगड़े की नींद खुल जाती है। कपासी बहुत धीरे से कहती है--'चुप, जरा भी आवाज न करना नहीं तो ये लोग जग जायेंगे।'

क्षण भर में ही लंगड़ा सजग हो जाता है। कपासी का हाथ पकड़कर वह कहता है--'बैठ न !'

'नहीं, यहां बहुत रोशनी है।'

'तो फिर कहां ?'

'आओ घोड़े के उस तरफ चलें।'

लंगड़ा उठ कर अपनी दोनों वैशाखियों की तरफ हाथ बढ़ाता है। कपासी रोकती है, 'फिर इनको उठाया ? इसकी आवाज से तो सारा मुहल्ला जग जायगा। लो, मेरा कन्धा पकड़ लो, ।'

कपासी का कन्धा पकड़े-पकड़े लंगड़ा और कपासी मैदान की तरफ बढ़ जाते हैं।

मनुष्य के शरीर की गन्दी बू, आकाश में चांद, लेक के उस ओर अन्धकार, सिगनल की लाल रोशनी।

असहिष्णु हो घोड़ा पैर पटकता है। समय के पंख में गति आ गयी है।

'साला, बदमाश !' लंगड़ा कहता है।

'कौन ?'

लंगड़ा घोड़े की तरफ इशारा करता है। कपासी हँसती है। उसकी हँसी दूज के चांद की तरह रहस्यमय है। चोर की तरह चुपचाप आकर वे सो जाते हैं। आकाश का चांद और पृथ्वी के गूंगे घोड़े के अलावा उनके निशीथ-अभियान का कोई साक्षी नहीं रहता।

काफी दिन बीत गये। एक ही प्रकार से और एक ही पथ पर! लंगड़े के दिन अचल और स्थिर हो जाते हैं और कपासी के शरीर में शिथिलता। मृदु पैरों से जीवन आगे बढ़ता जाता है।

एक दिन रात को वैसे ही चोर की तरह चुपचाप उठ कर लंगड़ा कपासी को जगाता है--

'उठो, चलो।'

कपासी ने उस दिन कहा--'नहीं।'

'क्यों?'

'नहीं, जाकर सो जाओ।'

'क्यों?'

'मैं नहीं जाऊंगी।'

'तो फिर कल?'

'नहीं।'

'किसी भी दिन नहीं चलोगी?'

'नहीं।'

चिन्तित भाव से लंगड़ा लौटा और सो गया।

इसके कई दिन बाद एक रोज रात को लंगड़ा काफी देर बाद लौटा। लूला और काना बैठे-बैठे बीड़ी पी रहे थे। लंगड़े ने उनके आगे अपने पैसों की कटोरी बढ़ाकर कहा--'आज बहुत पैसे मिले हैं।'

एकाएक लूले ने कटोरी छीन कर फेंक दी। झन-झन आवाज के साथ चारों ओर पैसे बिखर गये। लूला हिंस्र भाव से लंगड़े पर टूट पड़ा, और फिर उस पर लात-घूंसे पड़ने लगे। इसमें काने ने भी सहयोग दिया।

'साला, बेईमान, हरामजादा-बदमाश। चला जा यहां से सूअर का बच्चा। भाग, जा भाग।'

लूला कांपने लगा!

लंगड़े ने कुछ कहने की कोशिश की।

'तू यहां से चला जा नहीं तो जान से मार डालूंगा।'

लंगड़े ने असहाय भाव से एक बार कपासी की ओर देखा। फिर अपनी बैशाखियां उठाकर रास्ते की ओर बढ़ा। कोलतार के निस्तब्ध रास्ते पर उसकी बैशाखियों की ठक-ठक आवाज आने लगी। और फिर क्षीणतर हो कर खो गई।

निर्विकार पत्थर की तरह कपासी बैठी रही।

कुछ वक्त कटा। काने ने एक बार रसिकता की कोशिश की—'खैर, हमारे दल में चार थे, चार जने ही फिर हो जायेंगे, हा..हा...हा..।'

लूले की फटकार सुन कर वह चुप हो गया !

बस

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में श्री कमल जोशी की कहानियों का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध कथाकार, दार्शनिक और औपन्यासिक श्री जैनेन्द्रजी ने कहा था "...हिन्दी कहानियों में ये अलग पहचानी जा सकती हैं, उनमें उनकी निजता है। कहीं कहीं तो उनसे उनकी कलम पर ईर्ष्या होती है।"

कमल जोशी हमारी मध्यवित्त श्रेणी के जागरूक कलाकार हैं। मध्यवित्त श्रेणी की दिन प्रति दिन बढ़ती हुई गरीबी, एकरसता, जीवन-संघर्ष और उदासी से भरी हुई जिन्दगी—उसके विभिन्न पहलुओं का ऊपर नीचे से, सब तरह से, सहानुभूतिपूर्वक प्रसादमयी शैली और आडम्बरहीन भाषा में स्पर्श व अंकन किया है। जहाँ वह सहानुभूतिशील है, वहीं पर वह [illegible] भी है। आज की रूढ़िवादिता, संस्कार एवं विवेकहीन धारणाओं और मानदंडों के विरुद्ध उसने विद्रोह किया है।